चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला

२४

॥ श्रीः ॥

प्रियदर्शिका

'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला

२४

महाकवि-श्रीहर्षदेवप्रणीता

प्रियदर्शिका

'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः—

पं० रामनाथत्रिपाठी शास्त्री



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

वाराणसी

१९७८

प्रकाशक : चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३५
मूल्य : ६-००

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० नं० १३८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

CHAUKHAMBA AMARABHARATI GRANTHAMALA

24

PRIYADARŚIKĀ

OF

ŚRĪ HARṢA DEVA

Edited with the

'Kalyani' Sanskrit-Hindi Commentaries

BY

Pt. RĀMANĀTHA TRĪPĀTHĪ SHĀSTRĪ



Chaukhamba Amarabharati Prakashan

VARANASI–221001 (India)

1978

Oriental Publishers & Book-Sellers

Post Box No. 138

K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221001

(INDIA)

First Edition

1978

Price Rs. 6-00

Also can be had from

Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 8, Varanasi-221001 (India)

Phone : 63145

दो शब्द

यह 'कल्याणी' संस्कृतहिन्दीव्याख्योपेत 'प्रियदर्शिका' का अभिनव संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। इसकी भूमिका में इस नाटिका के प्रणेता के परिचय, इसके साहित्यिक गौरव आदि सभी ज्ञातव्य विषयों पर सरल एवं सुबोध हिन्दी में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस व्याख्या को ऐसी सरल और सुबोध शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है कि जिससे ग्रन्थ के गम्भीर भाव सुस्पष्ट हो गये हैं और साधारण छात्र भी बड़ी सुगमता से कवि के गूढ अभिप्रायों को समझ लेगें किन्तु अपने प्रयास में मैं कहाँ तक सफल रहा हूँ, यह निर्णय पाठकों पर छोड़ता हूँ।

यदि मेरे इस प्रयास से विद्यार्थियों तथा अन्य भी पाठकों का कुछ भी उपकार हो सका तो मुझे कृतार्थ होने के लिए वही पर्याप्त होगा।

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन के सञ्चालक एवं सहयोगी बन्धुजन धन्यवाद के पात्र हैं जिनके अनवरत प्रयास से यह संस्करण सहृदय पाठकों तक पहुँच पाया है।

अन्त में अज्ञानवश अथवा प्रमादवश हुई सभी त्रुटियों एवं प्रूफ आदि की अशुद्धियों के लिए क्षमा-याचना करता हूँ। इति।

विद्वद्विधेय—
रामनाथ त्रिपाठी

रामनवमी
वि० सं० २०३५

भूमिका

नाटककार श्रीहर्ष

प्रस्तुत नाटिका के आमुख में कवि ने 'प्रियदर्शिका' नाटिका तथा अपने विषय में जो संक्षिप्त परिचय दिया है उससे इतना तो स्पष्ट पता चलता है कि इस नाटिका के रचयिता कोई हर्षदेव नामक राजा हैं। वसन्तोत्सव के अवसर पर भिन्न-भिन्न देश से आये हुए उनके आश्रित 'राजसमूह' की प्रार्थना पर सर्व-प्रथम इस नाटिका का अभिनय उस राजसमूह के समक्ष सम्पन्न हुआ था।

ये राजा हर्षदेव कौन हैं? इसका समाधान करने के लिए जब इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो हमें श्री हर्षदेव नाम के पाँच व्यक्ति मिलते हैं (१) 'काव्यप्रदीप' के रचयिता गोविन्द ठक्कुर के छोटा भाई' (२) 'नैषधचरित' महाकाव्य के रचयिता, (३) काश्मीर के राजा, जिनकी रानी के मनोरंज-नार्थं सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' की रचना की थी, (४) धारानगरी का राजा जो 'मुञ्ज' के पिता एवं राजा भोज का पितामह थे, (५) स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के राजा जिनके जीवन के सम्बन्ध में बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' गद्यकाव्य लिखा है। इन पाँचों में 'प्रियदर्शिका' का रचयिता किसे माना जाय, इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाणों के बल पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि निस्सन्देह स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के महाराज श्री हर्षदेव (हर्षवर्धन) 'प्रियदर्शिका' के रचयिता हैं।

श्रीहर्ष की 'प्रियदर्शिका' के अतिरिक्त और भी दो कृतियाँ हैं 'रत्नावली' नाटिका और 'नागानन्द' नाटक। इन तीनों का उल्लेख धनञ्जय के 'दशरूपक' में हुआ है। धनञ्जय दसवीं विक्रम शताब्दी में धारा नरेश 'मुञ्ज की राजसभा में पण्डित थे। आनन्दवर्धनाचार्य कृत 'ध्वन्यालोक' में 'रत्नावली' और 'नागानन्द' का उल्लेख हुआ है। आनन्दवर्धनाचार्य कश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा के

१. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठ्यां वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥

राज्यकाल (८५५–८८३ ई०) में हुए थे। ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कश्मीरनरेश जयापीड के मन्त्री दामोदर गुप्त ने अपनी कृति 'कुट्टनीमतम्' में 'रत्नावली' के अभिनय का उल्लेख किया है और उसकी एक प्रसिद्ध 'आर्या भी उद्धृत की है[१]। इससे 'प्रियदर्शिका, 'रत्नावली' और नागानन्द का रचयिता ईसा की आठवीं शताब्दी के पूर्व का सिद्ध होता है।

काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर के छोटे भाई श्रीहर्ष का स्थितिकाल ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी है। दूसरे, वह राजा भी नहीं था। 'नैषधचरित' महाकाव्य के प्रणेता श्रीहर्ष भी राजा नहीं थे वल्कि कान्यकुब्जेश्वर श्री जयचन्द्र के सभा-पण्डित थे, जैसा कि उन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ में 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्' लिखकर स्वयं भी स्वीकार किया है। दूसरे, उनका स्थितिकाल भी ईसा की बारहवीं शताब्दी है। कश्मीर के राजा श्रीहर्ष ने सन् १०७९ से ११०१ ई० तक राज्य किया था। मुञ्ज के पिता धारानरेश श्रीहर्ष का स्थिति काल ईसा की दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इस प्रकार ये चारों 'श्रीहर्ष' ईसा की दसवीं शताब्दी से पूर्व के किसी प्रकार से नहीं सिद्ध होते जब कि प्रिय-दर्शिका आदि तीनों कृतियों का रचनाकाल ईसा की आठवीं शताब्दी से पूर्व का सिद्ध है। अतः थानेश्वर के महाराज 'श्रीहर्ष' इस नाटिका के रचयिता हैं, अन्य पूर्वोक्त चार 'श्रीहर्ष' नहीं।

महाराज श्रीहर्ष की कृतियाँ

जैसा कहा जा चुका है कि महाराज श्रीहर्ष के निर्मित तीन ग्रन्थ हैं—(१) प्रियदर्शिका (नाटिका) (२) रत्नावली (नाटिका) (३) नागा-नन्दनाटक। इनका रचा एक व्याकरण विषयक ग्रन्थ भी कहा जाता है, किन्तु वह आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है। 'प्रियदर्शिका' कवि की प्रारम्भिक रचना है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है; क्योंकि इसकी रचनाशैली प्राञ्जल एवं परिष्कृत नहीं है। इसमें मौलिकता का भी अभाव है। यह ग्रन्थ कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' की छाया में लिखा हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है। इसकी अपेक्षा 'रत्नावली' और 'नागानन्द' में भावों, विचारों तथा शैली में प्रौढ़ता है।

---

१. उदयनगान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥ (रत्नावली १।२४)

'प्रियदर्शिका' के वाद 'रत्नावली' की रचना हुई है। इन दोनों नाटिकाओं में वत्सराज 'उदयन' का चरित वर्णित है। 'नागानन्द' नाटक कवि के जीवन के उत्तरार्ध की रचना है। 'रत्नावली' में 'प्रियदर्शिका' की अपेक्षा कवि को अत्यधिक सफलता मिली है। वस्तुविन्यास, भावप्रदर्शन आदि की दृष्टि से 'रत्नावली' का विद्वानों ने वड़ा समादर किया है। 'धनिक' ने तो दशरूपावलोक में प्रायः 'रत्नावली' से ही उद्धरण दिये हैं। दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमतम्' में रत्नावली के अभिनयक्रम का वर्णन किया है और इसके प्रथम अंक के चौवीसवें पद्य (आर्या) को उद्धृत किया है एवं 'रत्नावली' को हर्ष की एक अमूल्य कृति कहा है[१]। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी 'ध्वन्यालोक' में 'रत्नावली' का उल्लेख कर इसे समादृत किया है।

मतान्तर का खण्डन— कतिपय आलोचकों का कहना है कि तीनों कृतियों में 'रत्नावली' सर्वश्रेष्ठ है अतः यह कवि की अन्तिम रचना है और 'नागानन्द' वीच की रचना है। वे अपने कथन की पुष्टि में कुछ तर्क भी देते हैं। किन्तु वे सव निस्सार हैं। 'नागानन्द' किसी भी तरह 'रत्नावली' से निम्न कोटि का नहीं है। वह पितृप्रेम, परोपकार, अत्मबलिदान आदि की उदात्त भावनाओं से सम्भृत, अपने ढंग का निराला नाटक है। उसमें शृङ्गाररस तो गौणरूप से नाटक की शास्त्रीय मर्यादा के निर्वाह-मात्र के लिए है। उसका आदर्श एवं सात्त्विक मनोवृत्ति स्वयं कहती है कि कवि ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उसकी रचना की है।

'प्रियदर्शिका' और ,रत्नावली' दोनों में वस्तु, भाव आदि की ऐसी समानत है कि दोनों के रचना-क्रम में अधिक समय का व्यवधान ठीक नहीं जँचता है। यह भी ऊटपटाँग सा लगता है कि कवि 'प्रियदर्शिका' की रचना कर वत्सराज उदयन की ओर से मुख मोड़ कर जीमूतवाहन की कथा को लेकर 'नागानन्द' की रचना करे और फिर इस सात्त्विक उदात्त मनोवृत्ति का परित्याग कर उदयन की ओर लौट कर आये। अतः मान्य मत यही है कि 'प्रियदर्शिका' के वाद 'रत्नावली' और उसके वाद 'नागानन्द' की रचना हुई है।

---

१. आश्लिष्टसन्धिवन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्॥

तीनों कृतियों का एक कर्तृत्व

उक्त नाटकत्रयी के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चल ज ता है कि ये तीनों ग्रन्थ एक ही कवि महाराज श्री हर्ष के रचे हुए हैं। प्रत्येक कलाकार की अपनी एक विशिष्ट शैली होती है जो उसकी विभिन्न रचनाओं में समान रूप से प्रयुक्त रहती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कलाकार के अपने सिद्धान्त और विचार होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में उसकी कृतियों में अवश्य रहती है। इस दृष्टि से इन तीनों ग्रन्थों का अवलोकन करने पर उनका एक कर्तृत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है—

(१) 'अलमतिविस्तरेण' से लेकर 'श्री हर्षो निपुणः कविः' इत्यादि श्लोक तक तीनों ग्रन्थों में प्रस्तावना अक्षरशः एक ही है।

(२) 'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादि श्लोक नागानन्द (१ । ४) तथा प्रियदर्शिका (३ । १०) में समान ही है। इसी प्रकार—

(३) कन्यका हि निर्दोषदर्शना भवन्ति (नागानन्द अंक १)
निर्दोष दर्शना खल्वियम् (प्रियदर्शिका अंक २)

(४) अये मध्यमध्यास्ते नभस्तलस्य भगवान् सहस्रदीधितिः (नागानन्द अंक१)
अये कथं नभोमध्यमध्यास्ते भगवान् सहस्रदीधितिः (प्रियदर्शिका अंक२)

(५) शरदातपजनितोऽयं सन्तापः (नागानन्द अंक २)
" " " (प्रियदर्शिका अंक २)

(६) पदशब्द इव श्रूयते (नागानन्द अंक २)
" " " (प्रियदर्शिका अंक २)

(७) ही ही भोः सम्पूर्णा मनोरथाः (नागानन्द अंक २)
" " पूर्णा " (प्रियदर्शिका अंक २)

(८) तद् यावदहमपि दीर्घिकायां (नागानन्द अंक ३)
" " " " (प्रियदर्शिका अंक २)

(९) संरब्ध इव लक्ष्यसे (नागानन्द अंक ३)
प्रहृष्ट " " (प्रियदर्शिका अंक २)

(१०) 'अन्तःपुराणां विहितव्यवस्थः' इत्यादि (नागानन्द ४।१)
" " (प्रियदर्शिका ३।३)

नागानन्द रत्नाबली की समानता—

(१) न्याय्ये वर्त्मनि इत्यादि पद्य (नागानन्द १।८)
" " (रत्नावली १।९)

(२) भगवन् कुसुमायुध मम पुनरनपराद्धाया
अपि प्रहरन् अबले तिकृत्वा न लज्जसे। (नागानन्द अंक २)
भगवन् कुसुमायुध स्त्रीजनं प्रहरन् कथं न लज्जसे (रत्नावली अंक २)

(३) सखि, अतोऽपि मे सन्तापोऽधिकतरं बाधते (नागानन्द अंक २)
" " " " " (रत्नावली अंक' २)

(४) भो वयस्य, प्रच्छादय इमां चित्रगतां कन्यकाम् (नागानन्द अंक २)
प्रच्छादय चित्रफलकम् (रत्नावली अंक २)

(५) हञ्जे दुर्जनीकृतास्मि अनेन चित्रफलकं दर्शयता (नागानन्द अंक २)
आर्यपुत्र, अमात्ययौगन्धरायेण एतावन्तं कालं दुर्जनीकृतास्मि
(रत्नावली अंक४)

(६) 'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता' इत्यादि (नागानन्द ३।४)
'प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता' इत्यादि (रत्नावली ३।९)

(७) अये कथमनभ्रा वृष्टिः (नागानन्द अंक५)
" " " (रत्नावली अंक३)

(८) अद्य स्वामिपादा द्रष्टव्या इति यत्सत्यमनुपमं
कमपि सुखातिशयमनुभवामि। (प्रियदर्शिका अंक ४)
अद्य खलु चिरात् स्वामिनं द्रक्ष्यामीति यत्सत्यमानन्दातिशयेन किमप्यवस्थान्तरमनुभवामि। (रत्नावली अंक ४) इत्यादि।

ये तमाम गद्य-पद्य समान रूप से प्रयुक्त मिलते हैं। इतना ही नहीं, वस्तु, भाव और विचार की दृष्टि से भी तीनों रचनाओं में बहुत साम्य है। तीनों की भाषा और शैली में भी समानता है अतः ये एक ही कवि की कृतियां हैं और वे कलाकार हैं महाराज श्रीहर्ष,–इसमें कोई सन्देह नहीं है।

विभिन्न मत और उनका खण्डन—

मैक्डानल महोदय का मत है कि 'प्रियदर्शिका' और रत्नावली' किसी एक कवि की रचनाएँ हैं क्यों कि दोनों की 'नान्दी में शिव और गौरी की प्रार्थना है

तथा दोनों ग्रन्थों में आदि से अन्त तक हिन्दू धर्म का वातावरण परिलक्षित होता है किन्तु 'नागानन्द' का रचयिता कोई बौद्ध कवि है, क्योंकि 'नान्दी' में भगवान् बुद्ध की स्तुति की गयी है तथा बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त अहिंसा का स्थापन किया गया है।

मैक्डानल महोदय का उपर्युक्त तर्क नागानन्द का सूक्ष्म अवलोकन करने पर सर्वथा निस्सार लगता है। 'नान्दी' में बुद्धदेव की स्तुति की गयी है तथापि पूरे नाटक में वर्णाश्रमधर्म के प्रति कहीं भी अरुचि अथवा अश्रद्धा प्रकट नहीं होती है। नायक उसके माता-पिता और नायिका सभी को हिन्दूधर्म का पालन करते हुए चित्रित किया गया है और पूरे नाटक में आदि से अन्त तक हिन्दू धर्म का वातावरण छाया हुआ है। अहिंसा हिन्दूधर्म का भी मुख्य अङ्ग है। वास्तविकता यह है कि जीवन के उत्तरार्द्ध में महाराज हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हो गया था किन्तु हिन्दूधर्म का भी वे पूर्णरूप से आदर करते थे। 'नागानन्द' के माध्यम से उन्होंने बौद्धधर्म और हिन्दूधर्म दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। अतः 'नागानन्द' का भी रचयिता वही है जो 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' का है और वे हैं महाराज श्रीहर्ष।

कुछ विद्वानों का मत है कि 'रत्नावली' धावक नामक कवि की रचना है जो हर्ष की सभा का कवि था। महाराज श्रीहर्ष ने उसे धन देकर खरीद लिया और अपने नाम से प्रचलित कराया। इस मत का बीज 'मम्मट' का काव्य प्रकाश है। काव्य-प्रयोजन का निर्देश करते हुए मम्मट ने 'अर्थकृते' (अर्थात् काव्यप्रयोजनों में धनप्राप्ति भी अन्यतम है) लिखकर दृष्टान्त रूप में लिखा 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्'। उसकी 'उद्योत' टीका में टीकाकार ने व्याख्या की है कि 'धावकस्तन्नामा कविः। स हि श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीनाम्नीं नाटिकां कृत्वा बहुधनं लब्धवानिति प्रसिद्धिः। अर्थात् धावक नामक कवि ने श्रीहर्ष के नाम से 'रत्नावली' नाटिका की रचना कर बहुत सा-धन प्राप्त किया। कहीं-कहीं 'श्रीहर्षादेर्बाणादीनामिव धनम्' ऐसा पाठ-भेद मिलने से डॉ० हॉल तथा बुहलर ने मान लिया कि इन तीनों नाटकों की रचना बाण ने की है। कॉवेल महोदय का कहना है कि 'रत्नावली' का निर्माता 'बाण' तथा 'नागानन्द' का रचयिता 'धावक है और प्रियदर्शिका का रचयिता कौन है यह पता नहीं चलता।

वास्तव में काव्यप्रकाश में दृष्टान्तरूप से लिखे गये 'श्रीहर्षा देर्धावकादीना-मिव धनम्' वाक्य के विशुद्ध आशय को समझ न पाने वाले 'उद्योत' टीका के कर्ता ने जो 'धावकस्तन्नामा कविः, स हि श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीनाम्नीं नाटिकां कृत्वा बहुधनं लब्धवानिति प्रसिद्धिः'— यह व्याख्या प्रस्तुत कर दी वही इस वितण्डावाद की जन्मदात्री सिद्ध हो गयी, जब कि काव्यप्रकाश के दृष्टान्त रूप में लिखे गये वाक्य का एक सीधा-सा आशय इतना भर है कि श्रीहर्ष-जैसे गुण-ग्राही राजा के आश्रय में रहते हुए धावक आदि ने उससे समय-समय पर पुरस्कार स्वरूप पर्याप्त धन प्राप्त किया।

पाश्चात्त्य विद्वानों की यह धारणा कि राजा क्या कवि हो सकता है, क्या ग्रन्थ बना सकता है, नितान्त भ्रम मूलक है। विक्रमादित्य, शूद्रक, हाल, भोज आदि नृपतियों का संस्कृत-साहित्य की अभिवृद्धि में स्मरणीय योग-दान रहा है। श्रीहर्ष भी उन्हीं नृपतिकवियों में अन्यतम हैं। महाराज श्रीहर्ष कवियों एवं पण्डितों के आश्रयदाता होने के साथ-साथ स्वयं बड़े अच्छे कवि थे, फलतः प्रिय-दर्शिका, रत्नावली और नागानन्द इन तीन नाटकों का प्रणयन कर संस्कृत-साहित्य की समृद्धि में उन्होंने प्रशंसनीय योग दिया है।

महाराज श्रीहर्ष का जीवन

भारतीय इतिहास में हर्षवर्धन नाम से विख्यात महाराज श्रीहर्ष थानेश्वर के नृपति प्रभाकर वर्धन के द्वितीय पुत्र थे। इनकी जननी यशोमती देवी परम-साध्वी धर्मपरायणा थीं। राजा प्रभाकरवर्धन का ६०४ ई० में देहावसान हो जाने के पश्चात् महाराज श्रीहर्ष के ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन सिंहासनासीन हुए। उसी समय इनकी बहिन राज्यश्री के पति कन्नौजनरेश ग्रहवर्मा को मालव के नृपति देवगुप्त ने मार डाला और राज्यश्री को बन्दी बना लिया। राज्यवर्धन ने मालव-नरेश पर आक्रमण कर उसे युद्ध में मार डाला परन्तु राज्यवर्धन भी मालवनरेश के अभिन्न मित्र वंग के राजा शशाङ्क द्वारा धोखे से मारा गया। उस समय महाराज हर्ष की अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी जब उन्हें ६०६ ई० में शासन की बागडोर सँभालनी पड़ी। उस समय इनकी बहिन राज्यश्री किसी तरह बन्दीगृह से मुक्त होकर विन्ध्याचल के वनों में शरण लिए हुई थी। महाराज श्रीहर्ष ने सर्वप्रथम राज्यश्री को ढूँढकर प्राप्त करना अपना कर्त्तव्य समझ विशाल

सेना लेकर प्रयाण किया। मार्ग में शत्रुओं को जीतते हुए वे विन्ध्याचल पहुँचे। जिस समय राज्यश्री जीवन से तंग आकर आत्महत्या करने जा रही थी, संयोग से उसी समय उसे ढुंढते हुए महाराज हर्ष पहुँच गये और कन्नौज वापस ले आये। प्रजा के आग्रह पर इन्हें बहिन कीं सहायता के लिए कन्नौज का भीं शासनभार वहन करना पड़ा। इन्होंने विशाल सेना का संघटन कर पाँच वर्षों के भीतर हीं उत्तर भारत के सभी राजाओं को जीत कर अपने अधीन कर लिया। ६१२ ई० में 'महाराजाधिराज' की पदवी से विभूषित होकर इस दिग्विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने अपने नाम से 'हर्ष संवत्' चलाया।

समस्त उत्तर भारत पर विजय करने के पश्चात् साम्राज्य-विस्तार की कामना से इन्होंने दक्षिणभारत की ओर भी प्रस्थान किया। विजय प्राप्त करते हुए ये नर्मदा नदी के तट तक पहुँच गये। उसके आगे चालुक्यवंशीय द्वितीय पुलकेशी ने इनकी गति अवरुद्ध कर दी और ये आगे बढ़ने का विचार छोड़ कर लौट पड़े। इस प्रकार इनके राज्य का विस्तार हिमालय से लेकर नर्मदा तक, और आसाम से लेकर सौराष्ट्र तक था इनके राज्यकालमें प्रजा सब तरह से सुखी एवं प्रसन्न थी ! शिक्षा का भी बड़ा प्रचार-प्रसार था। सन् ६४७ ई० में इनका देहावसान हुआ। इस प्रकार सन् ६०६ ई० से ६४७ ई० तक अर्थात् ४१ वर्ष तक इन्होंने शासन किया था।

महाराज श्रीहर्ष कुल-परम्परा से हिन्दू धर्मावलम्बी (अर्थात् शैव) थे। इनकी दोनों नाटिकाओं की 'नान्दी' से भी इसकी पुष्टि होती है। 'सूर्य' इनके कुल देवता थे। साथ ही अपार धार्मिक सहिष्णुता भी इनमें थी। प्रजा को इन्होंने पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दे रखी थी। जीवन के उत्तरार्द्ध में बौद्धधर्म की ओर इनका झुकाव हो गया था किन्तु हिन्दू धर्म के प्रति इनकी श्रद्धा एवं समादर की भावना पूर्ववत् अक्षुण्ण बनी रही। ये धार्मिक समन्वय की मनोवृत्ति रखनेवाले राजा थे। 'नागानन्द' नाटक से भी ऐसा प्रतीत होता है। अपनी इसी मनोवृत्ति के कारण सुना जाता है कि किन्नौज में बहुत-सा धन व्यय करके ऐसे मन्दिरों का इन्होंने निर्माण करवाया था जिनमें शिव, सूर्य तथा वुद्ध की एक साथ पूजा होती थी। कर्मार कर महोदय ने तो इन्हें सातवीं शताब्दी का अशोक कहा है।

महाराज श्रीहर्ष जैसे एक महान् राजा थे, वैसे ही प्रकाण्ड विद्वान् और कवि भी थे। इनके दरबार में कवियों और विद्वानों का जमघट लगा रहता था। इनके आश्रित कवियों में बाण, मयूर, मातंग दिवाकर और धावक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। बाणकृत 'हर्षचरित' गद्यकाव्य से हर्ष के वैदुष्य, काव्यप्रतिभा, शौर्य, त्याग एवम् उदारता का पूर्ण और यथार्थ परिचय मिलता है। 'बाण' की 'कादम्बरी' एक विश्वविश्रुत गद्यकाव्य है। 'चण्डीशतक' स्तोत्र की भी रचना उन्हेंने की थी। मयूर भट्ट ने 'सूर्यशतक' स्तोत्र काव्य लिख कर सूर्य की स्तुति कर कुष्ठ रोग से मुक्ति प्राप्त की थी। आचार्य मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश में काव्य प्रयोजन के प्रसंग में जहाँ 'शिवेतरक्षतये' (अनर्थनिवारण) काव्य का अन्यतम प्रयोजन बताया है, वहीं दृष्टान्तरूप में 'आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्' लिख कर उक्त बात की पुष्टि की है। मातंग दिवाकर निम्न कुल के होते हुए भी 'हर्ष' के द्वारा 'बाण' और 'मयूरभट्ट' के समान ही सदा सम्मानित होते रहे, यह था 'हर्ष' का उदार दृष्टि कोण और गुणग्राहिता। राजशेखर ने इसी से लिखा है–'अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।

श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः ॥' इति।

श्रीहर्ष के राज्यकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन्सांग बौद्धधर्म के अध्ययन हेतु भारत आया था। उसने नालन्दा में बौद्धधर्म का सम्यक् अध्ययन करने के पश्चात् बहुत दिनों तक श्रीहर्ष की सभा को भी समलंकृत किया था। उसके यात्रा वर्णन से भी पता चलता है कि श्रीहर्ष की प्रजा पूर्ण सुखी और समृद्ध थी। श्रीहर्ष का प्रजा पर स्पृहणीय स्नेह या उनमें ऐसी आदर्श उदारता थी कि हर पाँचवें वर्ष प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर अपना सारा अर्जित धन ब्राह्मणों, श्रमणों और दीनों को दान कर देते थे।

श्रीहर्ष की मृत्यु के बाद सन् ६७१ ई० में प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक इत्सिग अपने धर्मग्रन्थों के अध्ययन हेतु भारत आया था। उसके यात्रावर्णन से भी विदित होता है कि श्रीहर्ष की साहित्य में बड़ी अभिरुचि थी और वे विद्वानों एवं कवियों के आश्रयदाता थे। महाकवि 'बाण' ने 'हर्षचरित' में हर्ष के काव्यकौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पीयूषवर्ष जयदेव 'प्रसन्नराघव' नाटक में कविता कामिनी का हर्ष 'हर्षो हर्षः' बताते हुए किस 'हर्ष' से अभिप्राय रखते हैं इसे वे ही जानें। ११वीं शताब्दी के सोड्ढल ने 'श्रीहर्ष को 'गीर्हर्ष' की उपाधि देते हुए इनके काव्य-कौशल के प्रति समादर व्यक्त किया है।

कथासार

प्रथम अङ्क

प्रथम अङ्क में, नान्दीपाठ के बाद सूत्रधार द्वारा नाटिका और उसके रचयिता का परिचय दिया गया है। तदनन्तर विष्कम्भक में राजा दृढवर्मा (अंकाधिपति) के कञ्चुकी के मुख से ज्ञात होता है कि अंगनृपति दृढवर्मा के एक प्रियदर्शिका नाम की कन्या थी। कलिङ्गराज चाहता था कि दृढवर्मा अपनी उस कन्या को उसे दे दे किन्तु दृढवर्मा ने वत्सराज उदयन को वह कन्या देने का निर्णय कर लिया। इससे कलिङ्ग दृढवर्मा पर क्रुद्ध था ही इधर वत्सराज उज्जयिनीनरेश प्रद्योत के बन्धन में पड़ गये। बस कलिङ्ग ने यह सोच कर कि इस समय दृढवर्मा को वत्सराज से कोई सहायता मिल नहीं सकेगी अतः आक्रमण का यह उपयुक्त अवसर है, दृढवर्मा पर आक्रमण कर दिया। दृढवर्मा पराजित हो गए और कलिङ्ग द्वारा वंदो वना लिए गए। अन्तःपुर के लोग भी इधर-उधर भाग गये। ऐसी स्थिति में कञ्चुकी ने सोचा कि प्रियदर्शिका को किसी प्रकार वत्सराज के पास पहुँचा दें। वह प्रियदार्शिका को लेकर शत्रु की दृष्टि से वचा कर वत्सराज के पास चला। मार्ग में कुछ सोच विचार कर उसने प्रियदर्शिका को दृढवर्मा के मित्र राजा विन्ध्यकेतु के पास छोड़ दिया। कञ्चुकी स्नानार्थ समीपवर्ती अगस्त्यतीर्थ को चला गया। उसी बीच में कुछ लोगो ने आकर विन्ध्य केतु का वध कर दिया और उस प्रदेश को जलाकर तहस-नहस कर दिया। कञ्चुकी ने लौट कर वड़ी खोज की किन्तु प्रियदर्शिका कहीं दिखायी न पड़ी। उसे यह विदित हो चुका था कि वत्सराज बन्धनमुक्त हो वासवदत्ता का अपहरण कर कौशाम्वी आ गये हैं किन्तु प्रियदर्शिका के विना कञ्चुकी ने वहाँ अपना जाना उपयुक्त नहीं समझा। विन्ध्यकेतु से कञ्चुकी को यह भी ज्ञात हो चुका था कि दृढवर्मा जीवन में हैं, भयानक आघात से क्षत-विक्षत हो गये हैं और बद्ध हैं ,अतः वहीं से वह दृढवर्मा के पास चला गया।

इधर वत्सराज ने बन्धनमुक्त होते ही विजयसेन को ससैन्य विन्ध्यकेतु पर आक्रमण के लिये भेज दिया था। विन्ध्यकेतु ने विजयसेन और उसकी सेना के छक्के छुड़ा दिये थे किन्तु अकेले वह बहुतों से लड़ते-लड़ते क्षतविक्षत हो वीर गति

को प्राप्त हुआ । यह समाचार विजयसेन ने आकर वत्सराज को बताया । वत्सराज विन्ध्यकेतु की वीरता पर मुग्ध हो गया । वत्सराज ने विजयसेन से पूछा कि क्या विन्ध्यकेतु की कोई सन्तान है जिस पर मैं अपनी इस प्रसन्नता का फल दिखा सकूं । विजयसेन ने बताया कि विन्ध्यकेतु के घर में एक कन्या 'हा तात, हा तात' ऐसा आर्त प्रलाप करती हुई मुझे मिली जो सत्कुलोत्पन्न थी, अतः वह मुझे विन्ध्यकेतु की ही कन्या समझ पड़ी । इस लिए मैं उसे ले आया हूँ । वह द्वार पर खड़ी है । वत्सराज ने प्रतीहारी यशोधरा से कहा—जाओ उसे वासवदत्ता को सौंप दो । देवी से कहना कि इसे अपनी बहन समझ कर, नृत्यगीत-वाद्य आदि में विशिष्ट कन्या की तरह शिक्षा दिलायें । विवाह योग्य होने पर मुझे याद दिलायें । वासवदत्ता ने भी अरण्य से प्राप्त होने के कारण उसका नाम 'आरण्यका' रख कर अपने अन्तःपुर में रख लिया ।

द्वितीय अङ्क

नियमोपवास से क्षीण प्रिया (वासवदत्ता) के दर्शनार्थ उत्कण्ठित वत्सराज अपने वयस्य वसन्तक के साथ धारागृहोद्यान में गये । इसी बीच में महर्षि अगस्त्य को अर्घ्य देने की इच्छा से देवी ने इन्दीवरिका को शेफालिका कुसुम और आरण्यका को वापी से कमलपुष्प लाने भेजा । वे दोनों धारागृहोद्यान में पहुँची वत्सराज और वसन्तक उस धारागृहोद्यान और वापी की शोभा के सम्बन्ध में परस्पर बात-चीत कर रहे थे कि उन्हें आरण्यका प्रत्यक्षचरी उद्यानदेवता-सी दिखायी पड़ी । यह कन्या कौन है ? वत्सराज बहुत तर्क-वितर्क करने पर भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँच रहे थे । उन्हे इन्दीवरिका और आरण्यका की बात-चीत से पता चला कि यह वही विन्ध्यकेतु की दुहिता है । वत्सराज का चित्त उसमें अनुरक्त हो गया । इधर आरण्यका को वापी से कमलपुष्पों को चुनते समय भौंरों ने परेशान करना आरम्भ कर दिया । उसने इन्दीवरिका को पुकारा । उसे वैसी स्थिति में देखकर वत्सराज, वसन्तक के उपदेश से चुपचाप उसके पास गये और आरण्यका ने उन्हें सखी इन्दीवरिका समझ कर पकड़ लिया । राजा उसे ढाढ़स देने लगे । आरण्यका को अपनी भूल मालूम हुई । वह भयपूर्वक दूर हट कर जोर-जोर से इन्दीवरिका को पुकार ने लगी । वसन्तक (विदूषक) ने उसे बताया कि ये वत्सराज जब तुम्हारी स्वयं रक्षा कर रहे हैं तब इन्दी-

वरिका को क्यों पुकार रही हो। वत्सराज का परिचय पाकर आरण्यका सस्पृह उन्हें देखती हुई मन में कहने लगी कि यह वही महाराज हैं जिनके लिए पिता ने मुझे दिया था। पिता जी का पक्षपात बिल्कुल ठीक ही था। उसी बीच में सखी की रक्षा के लिए इन्दीवरिका को वहाँ आती देख राजा और वसन्तक कदलीगृह के भीतर चले गये। इन्दीवरिका आरण्यका को साथ ले कर अन्त:पुर की ओर चली गयी। राजा भी आरण्यका के पुनर्दर्शन के उपाय सोचते हुए सन्ध्या निकट आयी जान कर घर के अन्दर गये।

तृतीय अङ्क

मनोरमा (चेटी) को वासवदत्ता ने यह आदेश दिया था कि भगवती सांकृत्यायनी ने आर्यपुत्र और मेरा जो वृत्तान्त नाटकरूप में उपनिबद्ध किया है उसका जितना अंश अभी अभिनीत नहीं हो सका है उसे आज तुम लोगों को कौमुदीमहोत्सव के अवसर पर अभिनीत करना है। मनोरमा ने सोचा कि कल शून्यहृदय होने के कारण आरण्यका ठीक अभिनय नहीं कर सकी थी। कहीं आज भी वह अभिनय में वासवदत्ता की भूमिका का ठीक निर्वाह न कर सकी तो उस पर देवी अत्यन्त कुपित होंगी अत: उसे खोजकर उलाहना दे दूँ। खोजती हुई वह धारागृहोद्यान की वापी के तट पर पहुँची और कदलीगृह में प्रविष्ट होती आरण्यका को उसने देखा। उसने छिपकर आरण्यका के विश्रब्ध भाषण को सुनकर जान लिया कि वह वत्सराज में दृढ़ रूप अनुरक्त है। समीप जाकर आश्वाशन देती हुई मनोरमा ने मदनसन्ताप मिटाने के लिए नलिनीपत्रों से उसका शिशिरोपचार किया। इतने में वत्सराज का भेजा हुआ वसन्तक आरण्यका को ढूँढ़ता हुआ वहीं पहुँच गया। वत्सराज की कामजनित दुरवस्था को वसन्तक के मुख से जान कर मनोरमा ने आरण्यका की दुरवस्था भी उसे ले आकर प्रत्यक्ष दिखलायी। मनोरमा ने उन दोनों के समागम का एक उपाय उसके कान में कहा—आज रात में हमलोग देवी के सामने 'उदयनचरित' नाटक का अभिनय करेंगे। आरण्यका वासवदत्ता बनेगी और मैं (मनोरमा) वत्सराज उदयन। महाराज को अपने चरित का अभिनय करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। अत: वे आकर स्वयम् अपनी भूमिका करते हुए समागम का आनन्द उठायें। वसन्तक भी प्रसन्न होकर राजा के पास गया और जाते हुए कह गया कि तुम दोनों जब तक वेश-भूषा ग्रहण करती हो तब तक मैं भी राजा को लेकर

आता हूँ। सभी दर्शकों के समवेत होने पर विदूषक के साथ राजा ने आकर मनोरमा से राजपरिधेय वस्त्रालंकार लेकर पहिन लिया और अपना पार्ट अच्छी तरह अदा करते हुए आरण्यका के सङ्गम का पूरा आनन्द उठाया। अभिनय होते समय वासवदत्ता को एकबार राजा के होने का सन्देह हुआ किन्तु साङ्कृत्यायनी ने इस रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण वासवदत्ता को समझा दिया कि तुम्हें राजा का मिथ्या भ्रम हो गया है इसका हेतु मनोरमा का अभिनय-कौशल ही है। वासवदत्ता को साङ्कृत्यायनी की बात पर विश्वास हो गया। साङ्कृत्यायनी ने नाटक की कथावस्तु में अनेकत्र कल्पना से भी काम लिया था। अतः वासवदत्ता को उन अवास्तविक बातों से चिढ़ पैदा हो गयी और सांकृत्यायनी के समझाने-बुझाने पर भी वासवदत्ता प्रेक्षागृह से बाहर निकल आयी। बाहर प्रेक्षागृह के द्वार पर विदूषक को सोता देखकर वासवदत्ता ने समझ लिया कि राजा भी यहीं कहीं अवश्य होंगे। उसने विदूषक को जगा कर पूछा कि मनोरमा कहाँ है? विदूषक ने रानी का उद्देश्य न समझकर जो कुछ रहस्य था खोल दिया। वासवदत्ता ने मनोरमा को विदूषक को बाँध लेने की आज्ञा देकर अभिनय करते हुए राजा के पास जाकर आरण्यका को खींचकर इन्दीवरिका को उसे भी बन्धन में रखने की आज्ञा दी। राजा के विविध अनुनय-विनय करने पर भी वासवदत्ता रुष्ट होकर ही वहाँ से चली गयी और आरण्यका को बन्धन में डालकर उसपर कड़ी निगाह रखने लगी।

चतुर्थ अङ्क

बेचारी आरण्यका बन्धन में पड़कर उसके क्लेश से उतनी दुःखी नहीं हो रही थी जितनी कि इस निराशा से कि वह अब महाराज का दर्शन नहीं पा सकेगी। उसका दुःख इस सीमा तक पहुँच चुका था कि वह एक दिन आत्म-हत्या करने जा रही थी, किन्तु वह तो मनोरमा ही थी कि जिसने किसी तरह उसे रोका। मनोरमा ने यह दुःखपूर्ण समाचार राजा तक पहुँचाने के लिए भी वसन्तक से निवेदन किया ताकि राजा उसकी मुक्ति का कोई उपाय सम्भवतः निकाल सकें। राजा ने वसन्तक के साथ बहुत विचार-विमर्श के बाद यह निर्णय किया कि आरण्यका की मुक्ति देवी वासवदत्ता की अनुकम्पा पर ही निर्भर है। अतः राजा उदयन उसे प्रसन्न करने के लिए चले और इधर वासवदत्ता को उसकी

माता का उपालम्भपूर्ण एक पत्र मिला जिसमें राजा दृढवर्मा को बन्धनमुक्त कराने में वत्सराज की उदासीनता को अनुचित कहकर इस विषय में वत्सराज को सचेष्ट करने के लिए कहा गया था। वासवदत्ता और सांकृत्यायनी में इसी पत्र को लेकर बात-चीत चल रही थी और वासवदत्ता वत्सराज की इस तटस्थता की नीति से बहुत दुःखी थी। इतने में ही वत्सराज वहाँ पहुँच गये और पादप्रणिपातादि से वासवदत्ता को मनाने लगे। सांकृत्यायनी के मुख से राजा को वासवदत्ता के दुःख का यथार्थ कारण ज्ञात होने पर उन्होंने बताया कि विजयसेन के नेतृत्व में हमारी सेना ने कलिङ्ग पर आक्रमण कर उसे दुर्ग की शरण लेने को बाध्य कर दिया है। बहुत शीघ्र आप को सुनने में आयेगा कि दुर्गपर भी विजय प्राप्त कर हमारी सेना के द्वारा कलिङ्ग मारा गया या बन्धन में डाला गया है। उसी समय विजयसेन और दृढवर्मा का कञ्चुकी विनयवसु दोनों राजा के दर्शनार्थ द्वार पर पहुँच गये। राजा की अनुमति पाकर दोनों राजा के पास पहुँचे और कञ्चुकी ने कलिङ्ग के मारे जाने एवं दृढवर्मा के पुनः राज्यासीन होने का शुभ समाचार सुनाया। वासवदत्ता को अत्यन्त प्रसन्न देखकर मौके का लाभ उठाते हुए वसन्तक ने इस खुशी के मौके पर आरण्यका को बन्धन मुक्त करने का प्रस्ताव रक्खा जो वासवदत्ता द्वारा सहर्ष स्वीकार कर लिया गया और सांकृत्यायनी स्वयम् उसे बन्धन मुक्त करने के लिए गयी। दृढवर्मा के कञ्चुकी ने उस समय यह भी बताया कि दृढवर्मा द्वारा अपनी कन्या प्रियदर्शिका आप (वत्सराज) को समर्पित की जा चुकी थी। कलिङ्ग का आक्रमण होने पर उस समय उसका वहाँ रहना ठीक न समझकर उसे साथ लेकर मैं (कञ्चुकी) कौशाम्बी को चला। अनन्तर सोच विचार कर उसे दृढवर्मा के मित्र विन्ध्यकेतु के पास रख दिया और मैं लौट गया। पीछे जब फिर वहाँ वापस आया तब तक किसी ने विन्ध्यकेतु समेत उस स्थान को भी समाप्त कर दिया था। वहाँ बहुत खोज करने पर भी वह नहीं मिली। तब से अबतक पता नहीं चला कि वह कहाँ पर है। इतने में मनोरमा चिल्लाती हुई वहाँ पहुँची और उसने बताया कि आरण्यका मदिरा के व्याज से दिये गये विष को पीकर मरने मरने पर है। वासवदत्ता घबरा गयी। उसने तुरन्त आरण्यका को वहाँ मंगवाया और नागलोक से विषचिकित्सा का ज्ञान प्राप्त कर आये हुए महाराज से उसके प्राण बचाने का अनुरोध किया। वासवदत्ता उस समय और

भी घबरा गयी जिस समय दृढवर्मा के कञ्चुकी ने यह बताया कि यही तो हमारी राजकुमारी प्रियदर्शिका है जिसे हम विन्ध्यकेतु के पास छोड़ गये थे। महाराज ने प्रियदर्शिका की चिकित्सा की और वह तुरन्त भली चंगी हो गयी। अपनी बहिन को पाकर वासवदत्ता अत्यन्त प्रसन्न हो गयी और उसने राजा के हाथ में प्रियदर्शिका को सौंप दिया।

प्रियदर्शिका नाटिका : कथावस्तु का मूलस्रोत

प्रियदर्शिका नाटिका की कथावस्तु का मूलस्रोत ईसा की प्रथम शताब्दी के कवि 'गुणाढ्य' द्वारा पैशाची प्राकृत में लिखा गया 'बृहत्कथा' ग्रन्थ है। सम्पूर्ण 'बृहत्कथा' की रचनागुणाढ्य ने एक लाख श्लोकों में की थी। महाकवि गुणाढ्य प्रतिष्ठानपुर के अधीश्वर सातवाहन के सभापण्डित थे। दण्डी, बाणभट्ट, धनञ्जय, त्रिविक्रम और गोवर्धनाचार्य आदि महाकवियों एवं विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में 'बृहत्कथा' और उसके रचयिता 'गुणाढ्य' का बड़े आदर के साथ स्मरण तथा प्रशंसा की है। खेद का विषय है कि ऐसा अद्भुत ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। 'बृहत्कथा' के दो संक्षिप्त रूपान्तर संस्कृत में मिलते हैं। पहिला है 'बृहत्कथामञ्जरी' जिसके रूपान्तरकार हैं 'महाकवि क्षेमेन्द्र'। ये काश्मीरनरेश अवन्तिराज (१०२८–१०६३ ई०) के राज्यकाल में हुए थे। दूसरा रूपान्तर है 'कथासरित्सागर' जिसकी रचना काश्मीर-नरेश श्रीहर्ष (सन् १०७९-११०१ई०) के शासन काल में उसकी रानी के विनोदार्थ सोमदेव ने की थी। इन दोनों ग्रन्थों में कौशाम्बी के राजा वत्सराज (उदयन) और वासवदत्ता की प्रेमकहानी एवं वत्सराज के अद्भुत साहसिककार्यों की कथा मिलती है।

उक्त दोनों ग्रन्थों के रचनाकाल से पूर्ववर्ती कवियों को भी वत्सराज (उदयन) और वासवदत्ता की प्रेमकथा और वत्सराज के अद्भुत साहसिक कार्यों की कथा 'बृहत्कथा' की अनुपलब्धि में भी पूर्णरूपेण ज्ञात थी क्योंकि प्राचीन भारत में उक्त कथा बड़े व्यापक रूप में जनता में प्रचलित थी। कालिदास ने मेघदूत[1] में और शूद्रक ने अपने मृच्छकटिक[2] में उक्त कथा की ओर

१. प्राप्यावन्तीनुदयन-कथा-कोविदग्राम-वृद्धान्।' तथा 'प्रद्योतस्य प्रिय-दुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे।'
२. 'यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः।'

निर्देश किया है। 'भास' के दो नाटक 'स्वप्नवासदत्त' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' एवं 'सुवन्धु' का 'वासवदत्ता' आख्यायिका ग्रन्थ पूर्णरूपेण उक्त कथा पर ही आधारित हैं।

यद्यपि कथासरित्सागर अथवा वृहत्कथामञ्जरी को हम हर्ष की प्रियदर्शिका की कथावस्तु का मूल स्रोत नहीं कह सकते क्योंकि इन दोनों के रचना काल से वहुत पूर्व 'हर्ष' (सातवीं शताब्दी में) हो चुके हैं तथापि कथा सरित्सागर में एक वन्दी राजकुमारी वन्धुमती की संक्षिप्त कथा का उल्लेख मिलता है जिसमें 'प्रियदर्शिका' नाटिका के प्रमुख पात्रों के नाम पाये जाते हैं। जैसे—वसन्तक, वासवदत्ता, भूपति (वत्सराज), सांकृत्यायनी आदि। 'बन्धुमती' की कथा प्रियदर्शिका की कथा से भी वहुत मिलती-जुलती है, अतः कहा जा सकता है कि 'प्रियदर्शिका' की कथावस्तु का आधार वन्धुमती की कथा है जो गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' में विस्तार से लिखी गयी होगी।

वन्धुमती की संक्षिप्त कथा 'कथासरित्सागर' में इस प्रकार है—

किं च वन्धुमतीं नाम राजपुत्रीं भुजार्जिताम्।
गोपालकेन प्रहितां कन्यां देव्या उपायनम्॥

तया मञ्जुलिकेत्येव नाम्नान्येनैव गोपिताम्।
अपरामिव लावण्यजलधेरुद्गतां श्रियम्॥

वसन्तक सहायः सन्दृष्ट्वोद्याने लतागृहे।
गान्धर्वविधिना गुप्तमुपयेमे स भूपतिः॥

तच्च वासवदत्तास्य ददर्श निभृतस्थिता।
प्रचुकोप च वद्ध्वा च सा निनाय वसन्तकम्॥

ततः प्रव्राजिकां तस्याः सखीं पितृ-कुलागताम्।
स सांकृत्यायनीं नाम शरणं शिश्रिये नृपः॥

सा तां प्रसाद्य महिषी तया सैव कृताज्ञया।
ददौ वन्धुमतीं राज्ञे पेशलं हि सतीमनः॥

ततस्तं वन्धनाद् देवी सा मुमोच वसन्तकम्।
स चागत्याग्रतो राज्ञीं हसन्निव जगाद ताम्॥

(कथासरित्सागर २।६।६७–७३)

'प्रियदर्शिका' नाटिका पर एक दृष्टि

कथावस्तु की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटिका कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' नाटक को छाया में लिखी गयी है। दोनों की कथावस्तु का आधार पूर्वोक्त वन्धुमती की कथा ही है। राजकुमारी प्रियदर्शिका उसके पिता अङ्गाधिपति दृढवर्मा द्वारा वत्सराज को प्रदत्त घोषित की गयी है तो माधवसेन ने अपनी वहिन मालविका को अग्निमित्र के लिए देना स्वीकार किया है। दृढवर्मा कलिङ्ग राज के द्वारा वन्दी वनाया गया और माधवसेन अपने चचेरे भाई विदर्भराज के द्वारा। अन्त में दोनों को तत्तन्नाटकों के नायकों ने अपने पराक्रम द्वारा वन्धनमुक्त कराया। प्रियदर्शिका को दृढवर्मा के कञ्चुकी ने नायक वत्सराज (उदयन) के पास पहुँचाने की चेष्टा की और मालविका को माधव सेन के मन्त्री ने अग्निमित्र के पास पहुँचाने का प्रयत्न किया, परन्तु दोनों नायिकाएँ विपद्ग्रस्त ही देखी गयीं। 'प्रियदर्शिका नाटिका' की नायिका 'प्रियदर्शिका' को वत्सराज के पास उसका सेनापति विजयसेन ने ले आया और उसे राजा ने रानी वासवदत्ता को सौंप दिया। उसी प्रकार 'मालविकाग्निमित्र' की नायिका को वीरसेन (रानी का भाई) ने अपनी वहिन के पास उपहार स्वरूप भेजा। दोनों नायिकाओं को गीत-नृत्य-वाद्य आदि का प्रशिक्षण दिया गया। प्रियदर्शिका को वत्सराज ने धारागृहोद्यान की वापी में कमल-पुष्प चुनते समय देखा तो मालविका को अग्निमित्र ने चित्र में रानी के समीप बैठी हुई देखा और दोनों नायक समान रूप से अपनी-अपनी नायिका में अनुरक्त हो गये। 'प्रियदर्शिका' में नायक-नायिका को मिलने का अवसर गर्भनाटक के अभिनय में दिया गया तो 'मालविकाग्निमित्र' में नृत्य-प्रदर्शन के समय। 'प्रियदर्शिका' में रानी वासवदत्ता द्वारा पूज्यभाव से देखी जाने वाली विदुषी महिला सांकृत्यायनी है तो 'मालविकाग्निमित्र में वही स्थान कौशिकी को प्राप्त है, इत्यादि। तथा अन्य भी वहुत सी कथावस्तु की समता सम्वन्धी वातें दोनों ग्रन्थों को मिलाकर पढ़ने से स्वयं ज्ञात की जा सकती हैं। विस्तार भय से उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। इसी से 'प्रियदर्शिका' को हर्षदेव की प्रथम रचना कहा जाता है।

रचना कौशल की दृष्टि से भी 'रत्नावली' की अपेक्षा 'प्रियदर्शिका' एक घटिया किस्म की नाटिका है। इसमें 'रत्नावली' की सी कल्पनाशक्ति और

रचनात्मक कला का अभाव है। तथापि कथावस्तु का पूरे चारो अङ्कों में क्रमिक विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। कथानक की सरसता, प्रसाद गुण युक्त शैली की सरलता, कवि की मनोहारिणी कल्पना, अनेक रोचक घटनाओं एवं स्थितियों की सृष्टि तथा वर्ण्य प्रसंगों की उत्कृष्टता और कवित्व आदि की दृष्टि से 'प्रियदर्शिका' एक सफल रचना है। धारागृहोद्यान के वर्णन प्रसंग में कवि की सूक्ष्मदृष्टि एवं कल्पना प्रशंसनीय है। शेफालिका वृन्तों से आच्छादित भूमि मानों छोटे-छोटे मूँगों से जड़ी हुई है। भौंरे कमल परागों का अङ्गराग लगाये मकरन्द की मदिरा पीकर शराबियों की तरह अव्यक्तवाणी में गा रहें हैं। पुनश्च धारागृहोद्यान की भूमि हरी-हरी कोमल घासों से ऐसी लग रही है कि मानों अभी-अभी धुले हुए मरकत मणि के खण्डों से उसकी पक्की फर्श बनायी गयी है तथा विगलितबन्धूक पुष्पों से ऐसी प्रतीत हो रही है, मानों वर्षा ऋतु के न होने पर भी वीरबहूटियों से आच्छादित हो।[1]

आरण्यका का सौन्दर्य कितना मनोरम एवं कौतूहलवर्द्धक है—

पातालाद् भुवनावलोकनपरा किं नागकन्योत्थिता
... ... ।
मूर्ता स्यादिह कौमुदी ... ...
... ... हस्ततलस्थितेन कमलेनालोक्यते श्रीरिव ॥ (२।६)

इसी प्रकार 'स्निग्धं यद्यपि वीक्षितमित्यादि (३।१३–१५) रानी के क्रोध की अभिव्यंजना भी प्रशस्य है।

वत्सराज के स्नानागार की वारवनिताओं के वर्णन-प्रसंग में उनके स्तनों से स्नानभूमि को, ऊपर रक्खे गये (उत्क्षिप्त) अन्य स्वर्णघटों से युक्त सी चित्रित कर कवि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि और समर्थ कल्पना का परिचय दिया है।[2]

इसी प्रकार १।१२ में दोपहर की धूप, २।१० में सन्ध्या, ३।२ में प्रेक्षागृह की शोभा के वर्णन भी द्रष्टव्य हैं। अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही कहना है कि श्री हर्षदेव कवित्व की दृष्टि से बहुत सफल हैं।

रसयोजना की दृष्टि से भी 'हर्ष' की रस सिद्धता प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। शृङ्गार रस तो प्रियदर्शिका का अङ्गीरस ही है (यद्यपि उसका वैसा समुचित

---

१. देखिए अङ्क २, श्लोक २–३। २. देखिये १।११।

विकास दिखायी नहीं देता जैसा कि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में) किन्तु अन्य रसों की भी अङ्ग रूप में समुचित योजना की गयी है—

प्रथम अङ्क में कञ्चुकी के द्वारा दृढवर्मा की विपत्तियों एवं उसकी पुत्री प्रियदर्शिका के गायब होने के वर्णन प्रसंङ्ग में, तथा चतुर्थ अङ्क में विषप्रभाव से म्रियमाणावस्था में आरण्यका की रङ्गमञ्च पर उपस्थिति में करुण रस है। विदूषक की उक्तियों में अनेकत्र हास्य रस पाया जाता है। प्रथम अङ्क में विजयसेन द्वारा, विन्ध्यकेतु के साथ युद्ध वर्णन के प्रसंग में वीर रस की योजना है। विषप्रभाव से म्रियमाण आरण्यका का राजा द्वारा केवल अभिमन्त्रित जल शरीर पर छिड़क कर जीवित किया जाना अद्भुत रस का विषय है।

'उत्तररामचरित' में भवभूति की तरह और 'Hamlet' में 'शेक्सपियर' की तरह 'प्रियदर्शिका' में 'हर्ष' ने तृतीय अङ्क के अन्तर्गत जो गर्भाङ्क की रचना की है वह उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है।

संस्कृत नाटक साहित्य में हर्षदेव का स्थान

एक कवि और नाटककार के रूप में हर्षदेव निस्सन्देह महान् हैं। इनमें भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति की सरलता का एक विशेष गुण है। इनकी शैली में कृत्रिमता तथा शब्दाडम्बर और अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों का अभाव है। नाटक को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए आवश्यक परिस्थियों और घटनाओं की सृष्टि में भी इनकी कला महत्त्वपूर्ण है। इनकी भाषा में सौन्दर्य, स्वच्छता और औचित्य है। इन्होंने अलङ्कारों का समुचित प्रयोग किया है। इनके भाव और विचार सीमाबद्ध और आनन्दप्रद हैं। इनके द्वारा उद्यान, वन, पर्वत, निर्झर, वसन्तोत्सव, सन्ध्या, मध्याह्न आदि का किया गया वर्णन प्रशंसनीय है। इन सब विशेषताओं को देखने से यही लगता है कि हर्षदेव ने कालिदास को अपना आदर्श माना है और अपने को कालिदास एवं भवभूति आदि प्रथम श्रेणी के कवियों और नाटककारों की पंक्ति में स्थान पाने योग्य दिखाया है। इनके तीनों नाटकों की प्रस्तावना के अन्तर्गत 'प्ररोचना' में 'श्री हर्षो निपुणो कविः' कथन से भी यही अभिप्राय निकलता है। यद्यपि इनका उक्त कथन इनकी नाटकगत उपर्युक्त विशेषताओं की दृष्टि से नितान्त समीचीन है तथापि इन्हें

प्रथमश्रेणी के नाटककारों में स्थान देना पक्षपात से रहित नहीं होगा। कतिपय अन्य नाटककारों के समान न तो ये कथावस्तु की कल्पना में मौलिकता दिखा सके हैं और न पात्रों के चरित्र-चित्रण की कला ही। इनमें कालीदास की सी उदात्तभावना, रचना सौष्ठव और कल्पना शक्ति का सर्वथा अभाव है। भवभूति की सी भावों की उदात्तता एवं गाम्भीर्य तथा उद्दाम अनुराग इसमें कहाँ? कालिदास को अपना आदर्श मानते हुए भी ये अपने को लम्बे-कठिन समासों एवम् अनुप्रासों के मोहजाल से बचा नहीं सके हैं।[1] कहीं प्रसंग-वश घन (बादल) के बन्धन से मुक्त सूर्य को, अपने वर्ण्य वत्सराज के समान दिखाने के लिए उन (वत्सराज) को घन (दृढ) बन्धन से मुक्त करते हुए ये (हर्षदेव) स्वयम् अपने को 'श्लेष' के बन्धन में डाल बैठे हैं।[2] और कहीं घन (निविड) बन्धन से संरुद्ध करागृह की, गगन से समानता दिखाने के चक्कर में उस (गगन) को घन (मेघ) के बन्धन (पटल) से संरुद्ध करते हुए, उसके साथ अपने को भी श्लेप के घन बन्धन से संरुद्ध कर लेते हैं।[3]

श्री हर्षदेव में वह नाटकीय कला और भाषाधिकार भी नहीं है जो कालिदास और भवभूति का एक सामान्य गुण है। अतः हर्षदेव को द्वितीय श्रेणी के संस्कृत रूपककारों में ही स्थान देना समीचीन होगा।

पात्रालोचन

वत्सराज—प्रस्तुत नाटिका का नायक (वत्सराज) उदयन है जो कौशाम्बी का राजा था। नाटिका की प्रस्तावना के अन्तर्गत 'प्ररोचना' में 'लोके हारि च वत्सराजचरितम्' उल्लिखित होने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में उदयन सम्बन्धी कथाएँ लोक में बहु प्रचलित थीं जिनका वर्ण्यविषय वत्सराज का प्रेम तथा उसके लिए किये गये साहहिक कार्य थे। नाट्यशास्त्र के नियमानुसार वत्सराज इस नाटिका का 'धीरललित नायक है, जिसकी परिभाषा है—

'निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।'

१. देखिए, बन्धन की निन्दा करते हुए विदूषक की उक्ति, अङ्क १। अविरत-पतदित्यादि (अङ्क २)।

२. घनबन्धनमुक्तोऽयमित्यादि (१।५)

३, देखिए ३।८।

अतः नायक के विलासमय जीवन का चित्रण करने के अतिरिक्त नाटककार, वत्सराज के लोक विख्यात चरित के अनुरूप उसके स्वरूप का चित्रण करने में असमर्थ था अतः 'प्रियदर्शिका' के नायक के चरित्र विकास और 'मालविकाग्निमित्र के चरित्र विकास की तुलना करना उचित न होगा। हाँ, प्रियदर्शिका' के नायक का चरित्र उतना विकसित नहीं हुआ है जितना 'रत्नावली' में हो सका है—यह हम कहसकते हैं। 'प्रियदर्शिका' में नायक की गुणैकपक्षपातिता अवश्य उल्लेखनीय है। वह अपने सेनापति विजयसेन द्वारा शत्रु विन्ध्यकेतु का, वीरता के साथ लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त करना सुनकर मुग्ध हो जाता है और कह उठता है।

'सत्पुरुषोचितं मार्गमनुगच्छतो यत्सत्यं व्रीडिता एव वयं विन्ध्यकेतोर्मरणेन'[1] प्रियदर्शिका के वत्सराज के चरित्र की दूसरी विशेषता उसका वह अद्भुत कार्य है जिसका अनुष्ठान उसने महासेन प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता का अपहरण कर बन्धन से मुक्त होकर निर्विघ्न कौशाम्बी पहुँच जाने में किया है।

'प्रियदर्शिका'—मुग्धा नायिका है जिसका लक्षण है—'प्रथमावतीर्णयौवनमदन-विकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥' अतः उक्त लक्षण के अनुरूप ही नाटककार ने प्रियदर्शिका का चित्रण किया है। हाँ, उसके चरित्र की एक विशेषता अवश्य उल्लेखनीय है, वह यह कि प्रियदर्शिका ने वैसी कठिन परिस्थिति में पड़ कर भी आदि से अन्त तक कभी भी अपने वंश को प्रकाशित कर अपनी हेठी नहीं होने दी। उसकी यह आत्मगौरव की भावना उसके आभिजात्य के अनुरूप है। मुग्धा के रूप में उसका समधिकलज्जावती होना भी उसके चरित्र की दूसरी विशेषता है। प्रियदर्शिका वत्सराज के नवा-नुराग में पड़ कर सन्तप्त होने पर भी अपने दुःख को हल्का करने के लिए अपनी समधिक लज्जा के कारण अभिन्न सखी मनोरमा से भी यह वृत्तान्त कहने में अपने को असमर्थ पाती है। उसने इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अपने मुख से मनोरमा को कुछ नहीं बताया, भले ही मनोरमा ने चुपके से छिप कर उसके स्वागत भाषण को सुन कर सब कुछ जान लिया, यह दूसरी बात है।

वासवदत्ता—उज्जयिनीनरेश महासेन प्रद्योत की पुत्री और वत्सराज की प्रधान रानी है। वह अपने पति के प्रति निष्कपट एवं गम्भीर प्रेम रखने वाली महिला

---

१. देखिए प्रथम अंक।

है। उसकी ईर्ष्यालु प्रकृति का हेतु, उसका पति के प्रति सच्चा एवं गम्भीर प्रेम ही है। वासवदत्ता वेषधारिणी आरण्यका के साथ, मनोरमा के स्थान पर राजा स्वयं जब अभिनय कर रहे थे तभी उसको सन्देह उत्पन्न हो गया था और उसने विदूषक के मुख से भी जब सारी वास्तविकता जान ली तो उसने आरण्यका और विदूषक को बन्धन में डाल दिया। विदूषक तो बाद में किसी प्रकार मुक्त कर दिया गया किन्तु आरण्यका को उसने कुछ दीर्घ काल तक कैद में रक्खा। वह सरलता से सन्तुष्ट होने वाली नहीं। उसको मनोरमा से जब यह ज्ञात हुआ कि आरण्यका ने विष पी लिया है और वह खतरनाक स्थिति में है तब जाकर कहीं उसने लोकापवाद से बचने के लिए उसे तुरन्त वहीं मंगवाया और वत्सराज से उसकी चिकित्सा करने का अनुरोध किया जो विषचिकित्सा के विशेषज्ञ थे।

वासवदत्ता को हम चतुर्थ अङ्क में अपने मौसा दृढवर्मा के दीर्घकालीन कैद के समाचार से गम्भीर शोक में निमग्न देखते हैं, वहाँ उसका एक सच्ची स्नेहशील कन्या का रूप चित्रित किया गया है।

वासवदत्ता को जब दृढवर्मा के कञ्चुकी के मुख से यह विदित होता है कि यह आरण्यका तो उसके मौसा दृढवर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका है, जो खो गयी थी और जिसे दृढवर्मा ने वत्सराज को प्रदान कर रक्खा था तब उसने दृढवर्मा की प्रतिज्ञापूर्ति के लिए बड़ी प्रसन्नता के साथ प्रियदर्शिका का हाथ वत्सराज को पकड़ा दिया। यह वासवदत्ता की सदाशयता हैं।

विदूषक (वसन्तक)—वत्सराज का अभिन्न वयस्य है। वह जाति से ब्राह्मण होते हुए भी अशिक्षित किन्तु प्रत्युत्पन्नमति है। वह स्वभाव से बड़ा लोभी, सदा कुछ न कुछ दान पाने के लिए समुत्सुक रहा करता है। वह अपने विकृत अङ्गों, वचनों, व्यापारों तथा वेषभूषा से हँसाने वाला व्यक्ति है जैसा कि विदूषक का लक्षण है। वह प्रेमविषयक मामले में नायक की, समुचित सहायता करता है। भौंरों से आक्रान्त आरण्यका जब सहायतार्थ इन्दीवरिका को पुकारती है तब विदूषक राजा को चुपचाप उसके पास जाने की सलाह देता है ताकि वह उसे इन्दीवरिका के भ्रम में बाहों से जकड़ ले। गर्भनाटक में विदूषक ने ही योजना बनायी कि राजा मनोरमा के स्थान पर स्वयम् अपनी भूमिका सम्पन्न कर आरण्यका से मिलने का सदवसर प्राप्त करे किन्तु चपलबुद्धि होने से उसने अपनी अर्द्ध-सुप्तावस्था में रानी से सारे रहस्य का उद्घाटन

कर मामला चौपट कर दिया। कञ्चुकी जब राजा को समाचार देता है कि कलिङ्गराज मारा गया और दृढवर्मा पुनः राज्यासीन हो गया उस खुशी के अवसर पर वह गुरुपूजा (राजा पर प्रसन्न होना) ब्राह्मणभोजन और आरण्यका को बन्धन से मुक्त करने का प्रस्ताव रानी के सामने रखता है। राजा द्वारा प्रियदर्शिका के स्वस्थ कर दिये जाने पर पुनः रानी को स्मरण दिलाता है कि आप वैद्य की फीस देना भूल रही हैं।

पात्र-परिचय

पुरुषपात्र

१. वत्सराज (उदयन)···नायक ।

२. विदूषक···उदयन का नर्मसचिव तथा वयस्य ।

३. विजयसेन···उदयन का सेनापति ।

४. कञ्चुकी···दृढवर्मा का कञ्चुकी, विनयवसु ।

५. रुमण्वान्···उदयन का मन्त्री ।

स्त्रीपात्र

१. वासवदत्ता···महासेन प्रद्योत की पुत्री और वत्सराज की पत्नी ।

२. आरण्यका···दृढवर्मा की कन्या प्रियदर्शिका या प्रियदर्शना ।

३. इन्दीवरिका···दासी ।

४. काञ्चनमाला···दासी ।

५. मनोरमा··· दासी और आरण्यका की सखी ।

६. सांकृत्यायनी···धर्मपरायणा साधु महिला, (वासवदत्ता के साथ रहने वाली) ।

७. प्रतिहारी··· द्वारपालिका ।



विषय-सूची



॥ श्रीः ॥

प्रियदर्शिका

'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

—×—

प्रथमोऽङ्कः

धूमव्याकुलदृष्टिरिन्दुकिरणैराह्लादिताक्षी पुनः
पश्यन्ती वरमुत्सुकानतमुखी भूयो ह्रिया ब्रह्मणः ।

अथाति सरसां प्रियदर्शिकां नाम नाटिकां विधित्सुः कविर्हर्षदेवस्तस्याः प्रारम्भे निर्विघ्नं चिकीर्षितग्रन्थसमाप्तये, सानन्दाभिनयसम्पत्तये, सामाजिकानामानुषङ्गिकमङ्गलसिद्धये च शिष्टाचारज्ञापितस्मृतितर्कितश्रुतिबोधितकर्त्तव्यताकं पूर्वरङ्गप्रधानभूताष्टपदनान्द्यात्मकं मङ्गलं ग्रन्थतो निबध्नाति—

धूमव्याकुलेति—। करग्रहविधौ विवाहमङ्गलसमये, धूमव्याकुलदृष्टिः—धूमेन = वह्निसमुत्थेन धूमपटलेनेत्यर्थः, व्याकुले = पीडां गते, दृष्टी = नयने यस्याः सा तथोक्ता, धूमाकुलितनेत्रतया वरं द्रष्टुमक्षमेति भावः। पुनः = तथापि, यावच्छिवमुखमण्डले दृष्टिं दत्तवतीति भावः। इन्दुकिरणैः = शिवमस्तकस्थचन्द्रकिरणैः, आह्लादिताक्षी—आह्लादिते = धूमजन्यपीडाविगलनात् प्रमुदिते, अक्षिणी = नेत्रे यस्यास्तादृशी, प्रसादितनेत्रतया वरं निपुणं द्रष्टुं समर्था जातेति भावः। (तथा च) उत्सुका = उत्कण्ठिता सती, वरम् = पतिम्, शिवमित्यर्थः। पश्यन्ती =

विवाह मङ्गल के समय (अग्नि से उठे हुए) धूमपटल से जिनकी आँखें व्याकुल हो गयीं (अतएव वर को देखने में पहिले असफल रहीं) किन्तु तत्क्षण ही (शिव के मस्तक पर स्थित) चन्द्रमा की किरणों से वही आँखें आह्लादित हो गयीं (जिससे वर को भलीभाँति देखने में समर्थ हो गयीं) और

सेर्ष्या पादनखेन्दुदर्पणगते गङ्गां दधाने हरे
स्पर्शादुत्पुलका करग्रहविधौ गौरी शिवायास्तु वः ॥ १ ॥

विलोकयन्ती, भूयः = पुनः, ब्रह्मणः = पुरोधसश्चतुर्मुखात्, ह्रिया = लज्जया, आनतमुखी = अवनतमुखी (सञ्जाता)। (तत्क्षणमेव लज्जया स्वपादावलोकनप्रवृत्ता सती) पादनखेन्दुदर्पणगते—पादयोः = चरणयोः, नखाः इन्दव इव = चन्द्रा इव, त एव दर्पणानि, तानि गते = प्रतिफलिते, गङ्गां दधाने हरे = शिवे, सेर्ष्या = मस्तकस्थां गङ्गां सपत्नीं मन्यमाना जातासूया, (तथा च) स्पर्शात् = पादनखेन्दुदर्पणगतशिवस्पर्शबोधात्, उत्पुलका = सञ्जातरोमाञ्चा, गौरी = पार्वती, वः = युष्माकम्, रङ्गसामाजिकानामित्यर्थः, शिवाय = कल्याणाय, अस्तु = भवतु ।

स्वविवाहमङ्गलसमये वह्निजन्यधूमपटलेन व्याकुलदृष्टिरपि सती वरं शिवं द्रष्टुं यथाकथञ्चित् स्वदृष्टिं शिवमुखमण्डले नियुक्तवती, तद्भालस्थचन्द्रकिरणैर्धूमकृतपीडाविगलनात् प्रसादितनेत्रा सती वरं द्रष्टुमौत्सुक्येन प्रवृत्ता किन्तु तत्रैव पुरोहितत्वेन वृतं ब्रह्माणं विद्यमानं दृष्ट्वा लज्जयाऽवनतमुखी स्वभावतः स्वपादयोर्बद्धदृष्टिःस्थिता, तत्क्षणमेव स्वपादनखेन्दुदर्पणगतं शिरसा गङ्गां दधानं शिवं दृष्ट्वा मस्तकस्थां गङ्गां सपत्नीं मन्यमाना जातासूया, शिवस्पर्शबोधाच्च सञ्जातरोमाञ्चा पार्वती रङ्गसामाजिकानां पाठकानां च कल्याणं विदधात्विति स्पष्टार्थः । अत्रौत्सुक्यलज्जाऽसूयाऽऽदिभावानां शबलता । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ इति ॥ १ ॥

उत्सुक हो वर को देख ही रही थीं, (इतने में) ब्रह्मा को (पुरोधा रूप में विद्यमान) देख कर जिन्होंने मुँह नीचे करलिया (और लाज के मारे अपनी दृष्टि अपने चरणों पर गड़ा ली)। पैरों के नख चन्द्रदर्पण में (सिर पर) गङ्गा को धारण किये हुए शिव जी का प्रतिविम्व देख कर (गङ्गा के प्रति सापत्न्यभाव से) (उस समय एक ओर) जो ईर्ष्या से युक्त हो गयीं (किन्तु दूसरी ओर) शिव के स्पर्शबोध से रोमाञ्चित हो गयीं, ऐसी पार्वती आप सामाजिकों का कल्याण करें ॥ १ ॥

अपि च--

कैलासाद्रावुदस्ते परिचलति गणेषूल्लसत्कौतुकेषु
क्रोडं मातुः कुमारे विशति विषमुचि प्रेक्षमाणे सरोषम् ।
पादावष्टम्भसीदद्वपुषि दशमुखे याति पातालमूलं
क्रुद्धोऽप्याश्लिष्टमूर्तिर्भयघनमुमया पातु तुष्टः शिवो नः ॥ २ ॥

(नान्द्यन्ते)

कैलासाद्राविति—कैलासाद्रौ = कैलासपर्वते, उदस्ते = उत्क्षिप्ते, रावणेनेति भावः, परिचलति = कम्पमाने सति, गणेषु = प्रमथादिषु उल्लसत्कौतुकेषु—उल्लसत् = आविर्भवत् कौतुकम् = कुतूहलं येषां तथा सत्सु, किमिदमापतितमित्याश्चर्यचकितेष्विति भावः । कुमारे = कार्त्तिकेये, मातुः = जनन्या पार्वत्याः, क्रोडम् अङ्कम्, विशति = प्रविशति सति, भयादिति भावः । विषमुचि = शिवभूषणत्वेनावस्थिते शेषनागे, सरोषम् = सक्रोधम्, प्रेक्षमाणे = शिवावासभूतकैलासस्य विषमदशां पश्यति सति, पादावष्टम्भसीदद्वपुषि-पादस्य = शिवचरणस्य, अवष्टम्भेन = दृढं निवेशनेन, सीदत् = पर्वतभाराधिक्येन खिद्यमानं, वपुः = शरीरं यस्य तस्मिन्, दशमुखे = रावणे, पातालमूलं याति = भाराक्रान्ततयाऽधोभुवनतलप्रदेशं गच्छति सति, क्रुद्धः = रावणदुश्चेष्टितेन कुपितः अपि, उमया = पार्वत्या, भयघनम् = भयेन घनम् - गाढं यथा स्यात्तथा, आश्लिष्टमूर्तिः = आश्लिष्टा = आलिङ्गितामूर्तिः = शरीरं यस्य स तथोक्तः सन्, तुष्टः = प्रसन्नः शिवः, नः = अस्मान्, अभिनेतॄन् रङ्गसामाजिकाँश्चेत्यर्थः, पातु = रक्षतु । स्रग्धरा वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—"म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।" इति ॥ २ ॥

नान्द्यन्त—इति । नन्दयति आनन्दयति स्तवेन देवादीन् आशीर्वादेन

(रावणद्वारा) कैलास पर्वत ऊपर उठा लिया गया और डगमगा उठा उस समय (शिव के प्रमथादि) गण आश्चर्यचकित हो गये, कार्त्तिकेय (बालोचित भयवश) माता (पार्वती) की गोद में दुबकने लगे, (शिव का भूषणभूत) शेषनाग फुफकार मारता हुआ (कैलास की विषम दशा) निहारने लगा (त्यों ही) शिव द्वारा अपना पाँव जमीन पर दृढता से रोप दिये जाने पर रावण का शरीर (पर्वत के भार से आक्रान्त हो कर) अशक्त हो गया और

सभ्यादीन् वेति नान्दी । नन्देः पचाद्यजन्तान्नन्दशब्दात्प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्, ततः स्त्रियां ङीप् तदुक्तं नाटचप्रदीपे –

'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः ।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥'

तथा च दर्पणे—

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥' इति ।

इह च उमामहेश्वरयोः स्तुतिः रङ्गस्थसभ्यानामाशीश्चेत्युभयमपि सन्दर्शितम्, किञ्च प्रथमश्लोके इन्दुपदोपादानेन चन्द्राशंसित्वमपि सूचितम् । श्लोकपादस्यापि पदत्वाभ्युपगमादष्टपदेयं नान्दी । तदुक्तं नाटचप्रदीपे—श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे । परेऽवान्तर वाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे ॥ इति ॥ उभयोरादौ भूदेवताको मगणः प्रयुक्तस्तेन गणशुद्धिर्ज्ञेया 'क्षेमं सर्वगुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः' इति भामहोक्तेः । नान्द्यां काव्यार्थसूचनमपि कर्त्तव्यमाशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचक इत्युक्तेरिह तथा कृतं कविना । तदित्थम्—प्रथमश्लोके 'गौरी' ति पदेन नायिकाख्यका, 'धूमव्याकुलदृष्टिः' इत्यंशेन तस्याः स्वपितुर्दृढवर्मणो विपत्तिजन्यो विषादः, 'इन्दुकिरणैः' इत्यंशेन विन्ध्यकेतोराश्रयलाभात्तस्या हर्षः, 'पश्यन्ती वरमुत्सुका' इत्यंशेन यदृच्छया तस्या वत्सराजदर्शनं तज्जनितं च समागमौत्सुक्यम्, 'ह्रिया ब्रह्मणः' इत्यंशेन तस्या मनोरमासमक्षमपि स्वाशयप्रकाशनेऽसामर्थ्यम्, 'सेर्ष्या' इति पदेन गर्भनाटके वासवदत्ताभूमिकां सम्पादयन्तीमारण्यकां दृष्ट्वा देव्या असूया, 'उत्पुलका' इतिपदेन तस्या विवाहजनितहर्षरित्याद्यर्थजातं सूचितम् । द्वितीयश्लोके 'कैलासाद्रावित्याद्यंशेन कलिङ्गराजकृतो दृढवर्मणो राज्यपरिभ्रंशः' 'पादावष्टम्भेत्याद्यंशेन वत्सराजसैनिकाक्रान्तकलिङ्गराजस्य दुर्गाश्रयणं तद्विनाशश्च' 'आश्लिष्टमूर्ति' रित्यंशेन दृढवर्मणः पुनाराज्यप्राप्त्या परितुष्टया राज्ञ्या वासवदत्तया राज्ञो वत्सराजस्य हस्ते प्रियदर्शिकासमर्पणमित्यादि काव्यार्थः सूचितः ॥

वह पाताल की अतल कन्दरा में धँसने लगा । ऐसी स्थिति में (रावण की

सूत्रधारः—(परिक्रम्य) **अद्याहं वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय, नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तः। यथा 'अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालङ्कृता प्रिय-**

नान्द्याः = उक्तलक्षणरूपायाः, अन्ते = पाठसमाप्ती—

सूत्रधारः—सूत्रं नाटकीयकथासूचकवाक्यं धारयति समुपस्थापयतीति सूत्रधारः प्रधान नट इत्यर्थः। तथाहि—

'नाटकीय कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥' इति।

अपरञ्च—'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः ॥' इति।

परिक्रम्य = तत्र कियत्पदं सञ्चर्य, आहेतिक्रियापदमध्याहृत्यान्वयः कार्यः। अद्य = अस्मिन् दिने। अहम् = सूत्रधारः। वसन्तोत्सवे = उत्सवविशेषे। सबहुमानम् = सादरम्। आहूय = स्वसमीपं समुपस्थाप्य। नानादिग्देशागतेन—नाना दिशो येषां ते नानादिशः। नानादिशश्च ते देशाः इति नानादिग्देशाः, तेभ्य आगतेन। राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पाद-पद्मोपजीविना=महाराजश्रीहर्षदेवचरणकमलाश्रितेन। राजसमूहेन उक्तः = नृपवृन्देनादिष्टः। अपूर्ववस्तुरचनाऽलङ्कृता—अपूर्वं वस्तु = अभिनवनाटकीयकथा याऽद्यावधि न श्रुता न दृष्टा च, तस्य वस्तुनो रचनयाऽलङ्कृता = विभूषिता। प्रियदर्शिका नाम नाटिका—प्रियदर्शिका नाम नायिका, अङ्गराजस्य दृढवर्मणः कन्या, वासवदत्तायाश्च मातृष्वसेयी। तामधि-

---

उद्दण्डता पर) क्रुद्ध होकर भी, पार्वती द्वारा भयवश दृढालिङ्गन किये जाने से प्रसन्न शिव जी हम (अभिनेताओं और रङ्ग सामाजिकों) की रक्षा करें ॥२॥

(नान्दी समाप्त होने पर)

सूत्रधार–(कुछ पग कर चल कर) आज इस वसन्तोत्सव के अवसर पर नाना देशों से आये हुए, श्रीमन्नृपति हर्षदेव के चरणकमलाश्रित नृपों ने मुझे सादर बुला कर कहा है कि हमारे स्वामी श्रीहर्षदेव ने अपूर्व वस्तुरचना से विभूषित प्रियदर्शिका नाम की नाटिका की रचना की है—ऐसा हम लोगों

दर्शिका नाम नाटिका कृतेत्यस्माभिः श्रोत्रपरम्परया श्रुता, न तु प्रयोगतो दृष्टा। तत्तस्यैव राज्ञः सर्वजनहृदयाह्लादिनो बहुमानादस्मासु चानुग्रहबुद्धया यथावत्प्रयोगेण त्वया नाटयितव्या' इति। तद्यावन्नेपथ्यरचनां

कृत्य कृता नाटिकाऽप्यभेदोपचारात् प्रियदर्शिका नाम। उक्तञ्च—

'नाटिकासट्टकादीनां नायिकाभिर्विशेषणम्।'

प्रियदर्शिका शब्दात् 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यण्। 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इति वार्तिकेन तस्य लुप्, आख्यायिकापदस्य काव्यपरत्वात्। 'न लुमताङ्गस्य' इति सूत्रेण प्रत्ययलक्षणनिषेधाद् वृद्धयाद्याङ्गकार्याभावः। नाटिकारूपविशेष्येण सहाभेदान्वयात् स्त्रीत्वमिति केचित्।

नाटिकोपरूपकाणामष्टादशभेदेष्वन्यतमो भेदः। तल्लक्षणं यथा —

'नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः॥'इति।

श्रोत्रपरम्परया श्रुता = कर्णपरम्परयाऽवगता नतुप्रयोगतः = प्रयोगेन (अत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः) दृष्टा, किन्तु तस्या अभिनयो न दृष्ट इति भावः। तत् = तस्मात् ? सकलजनहृदयाह्लादिनः = सकलजनहृदयानन्ददायकस्य। तस्यैव राज्ञः = श्रीहर्षदेवस्य बहुमानात् = समादरभावात्। अस्मासु = नृपेषु च अनुग्रहबुद्धया = अनुग्रहं कुर्वतेत्यर्थः। यथावत् प्रयोगेण यथो-

---

ने कानों-कान सुना है किन्तु उसका अभिनय (अभी तक) देखा नहीं है, अतएव सकलजनों के हृदय को आनन्द देने वाले उन महाराज के प्रति अत्यन्त आदर से तथा हमारे ऊपर दया-बुद्धि से उसे अच्छी तरह आप अभिनीत करें। अतः मैं अब वेश-विन्यास कर उनके मनोरथ की पूर्ति करता हूँ (चारों ओर

कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि। (परितोऽवलोक्य) आवर्जितानि सामाजिकमनांसीति मे निश्चयः। कुतः।

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाटचे च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-

चिताभिनयेन। नाटयितव्या = अभिनेतव्या। नेपथ्यरचनाम् = पात्राववोधकवेशरचनाम्। यथाभिलषितम् = अभीष्टप्रयोगरूपं कार्यम्। सम्पादयामि = करोमि। आवर्जितानि = आकृष्टानि। सामाजिकमनांसि – समजन्त्यस्मिञ्जना इति समाजः। अधिकरणे घञ्। समाजं समवयन्ति सामाजिकाः। 'समवायान्समवैति' इति ठक्। सामाजिकानाम् = रङ्गस्थसभ्यानाम्, मनांसि। समुदितानां सर्वेषां रङ्गस्थजनानां हृद्यान्याकृष्टानीति जानामि खल्वहमिति सूत्रधारोक्तेरभिप्रायः।

श्रीहर्ष इति। श्रीहर्षः = प्रस्तुतनाटिकाया रचयिता तन्नामा कविः, निपुणः = रचनासु कुशलः कविः, एषा = पुरतो विद्यमाना, परिषद् अपि = सभाऽपि, गुणग्राहिणी – गुणान् = कवेरभिनेतॄणां च गुणान्, ग्रहीतुम् = याथातथ्येनावगन्तुं शीलमस्या इति तादृशी। वत्सराजचरितं च – वत्सराजः = उदयनः, तस्य चरितम् = उपाख्यानं च, लोके = संसारे, हारि = मनोहरम्। वयम् = नटाश्च, नाटचे = अभिनयकर्मणि, दक्षाः = निपुणाः (स्मः)। इह = एतेषु, एकैकमपि = स्वस्थाने स्वतन्त्ररूपेणैकमपि वस्तु, वाञ्छितफलप्राप्तेः, – वाञ्छितम् = अभीष्टं यत् सभासमाकर्षणरूपं फलं तस्य प्राप्तेः, पदम् = स्थानं कारण-

---

देखकर) मुझे निश्चय हो गया है कि सकल सामाजिकों का मन (इस ओर) आकृष्ट हो चुका है। क्योंकि––

(नाटिक के प्रणेता) श्री हर्ष एक कुशल कवि हैं, यह सभा भी गुण ग्राहिणी है, (नाटिका के नायक) वत्सराज उदयन का चरित लोक में मनोहर है और हम (नट) लोग भी अभिनयकला में दक्ष हैं। इन गुणों में पृथक्-पृथक् एक-एक गुण भी अभिनय की सफलता का कारण होता है, यहाँ तो मेरे

मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥ ३ ॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) **अये । कथं प्रस्तावनाभ्युद्यते मयि विदितास्मदभिप्रायोऽङ्गाधिपतेर्दृढवर्मणः कञ्चुकिनो भूमिकां कृत्वास्मद्भ्रातेन एवाभिवर्तते । तद्यावदहमप्यनन्तरभूमिकां सम्पादयामि ।** (इति निष्क्रान्तः)

इति प्रस्तावना ।

मिति यावत् । मद्भाग्योपचयात् = मम भाग्यस्याधिक्यात्, अयं समुदितः = उक्तरूपः समवेतः, सर्वः = समग्रः, गुणानां गणः = समष्टिः, किं पुनः ? उक्तरूपेषु गुणेष्वेकस्मिन्नपि गुणे सति सभासमाकर्षणरूपफलप्राप्तिः सुनिश्चिता, सर्वेषु गुणेषु समवेतेषु सत्सु किमु वक्तव्यम् ?" शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

अद्याहमित्यारभ्यैतच्छ्लोक पर्यन्तं भारतीवृत्तिः । तल्लक्षणं यथा—'भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।' इति । तस्याश्चत्वार्यङ्गानि—प्ररोचना, वीथी, प्रहसनं, प्रस्तावना चेति । तत्र प्ररोचनेयम् । तत्स्वरूपञ्च—'उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ।' इति ।

नेपथ्याभिमुखम् = वेशरचनागृहाभिमुखम् । प्रस्तावनाभ्युद्यते—प्रस्तावना = अभिनेयवस्तुपरिचयः, तदर्थमभ्युद्यते, प्रस्तावनां प्रयुञ्जाने इत्यर्थः । कञ्चुकिनः = राज्ञोऽन्तः पुरचरस्य पुरुषविशेषस्य । कञ्चुकिलक्षणं यथा – 'अन्तःपुरचरो राज्ञां वृद्धो विप्रो गुणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥' इति । भूमिकां कृत्वा = वेशग्रहणं कृत्वा । अनन्तरंभूमिकाम् = इतः परं धारणीयां वेशभूषाम् ।

प्रस्तावना—एतल्लक्षणम् – 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा । सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः । आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥' इति । अत्र चिकीर्षि-

---

सौभाग्य से नैपुण्यादि पूर्वोक्त सभी गुण समवेतरूप से विद्यमान हैं, तब फिर क्या कहना है ? ॥ ३ ॥

(नेपथ्य की ओर देख कर)

अरे क्या मेरे प्रस्तावना प्रारम्भ करते ही, हमारा अभिप्राय समझ कर अङ्गराज दृढवर्मा के कञ्चुकी का वेशग्रहण कर हमारा भाई इधर ही आ रहा है । अतः मैं भी तब इसके बाद की जाने वाली भूमिका ग्रहण करता हूँ । (जाता है) (प्रस्तावना समाप्त)

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी--(शोकश्रमं नाटयन्, निःश्वस्य) **कष्टं भोः कष्टम् ।**

राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गमार्गखेदः ।

आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥ ४ ॥

(सशोकं सविस्मयं च) **तादृशस्यापि नामाप्रतिहतशक्तित्रयस्य रघु-**

तामपि प्रस्तावनामकृत्वा कञ्चुकिप्रवेशसूचनं कृतमतः प्ररोचनैवेयमिति बोध्यम् ।

कञ्चुकीति । शोकश्रमम् = शोकः = मानसिकखेदः, तेन युतः श्रमः = शारीरिकपरिश्रान्तिः, तं नाटयन् – अभिनयन् ।

कञ्चुकी स्वचिरजीवितां निन्दन्नाह – राज्ञ इति । राज्ञः दृढवर्मणः, विपद् = दुर्दशा, बन्धुवियोगदुःखम् – बन्धूनां वियोगस्तेन दुःखम्, बान्धवविरहजनितक्लेशः, देशच्युतिः – देशात् च्युतिः = परिभ्रंशः, स्ववासदेशात् पलायनमित्यर्थः । दुर्गममार्गखेदः – दुर्गमे = दुस्सञ्चरे मार्गे, दुर्गममार्गगमनेनेत्यर्थः, खेदः = क्लेशः । कटुनिष्फलायाः – कट्वी अप्रिया, निष्फला = व्यर्था च तस्याः, अस्याः = अनुभूयमानायाः, चिरजीवितायाः अतिदीर्घकालपर्यन्तं जीवनधारणस्य, एतत् = उक्तरूपम्, फलम्, मया आस्वाद्यते = भुज्यते । मम दीर्घायुष्यमेव सर्वदुःखमूलमिति भावः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ४ ॥

तादृशस्यापीति । तादृशस्य = प्रसिद्धस्य । अप्रतिहतशक्तित्रयस्य – प्रभुशक्तिः, उत्साहशक्तिः, मन्त्रशक्तिश्चेति शक्तित्रयम्, अप्रतिहतम् = अप्रतिरोध्यं

(तदनन्तर कञ्चुकी का प्रवेश होता है)

कञ्चुकी—(शोकयुक्त श्रम का अभिनय करता हुआ, लम्बी साँस लेकर) कष्ट है ! कष्ट ! राजा को विपत्ति का सामना करना पड़ा, उसे बन्धुओं के वियोग का दुःख भोगना पड़ा, देशनिकाला हुआ, दुर्गम मार्ग का कष्ट उठाना पड़ा । अपनी इस कटु एवं निष्फल चिरजीविता का यही फल मुझे चखना पड़ रहा है ॥ ४ ॥

(शोक और विस्मय के साथ)

प्रसिद्ध पराक्रम वाले, अप्रतिहत तीनों शक्तियों (मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति

दिलीपनलतुल्यस्य देवस्य दृढवर्मणः 'मत्प्रार्थ्यमानाप्यनेन स्वदुहिता वत्सराजाय दत्ता' इति बद्धानुशयेन वत्सराजो बन्धनान्न निवर्तते इति च लब्धरन्ध्रेण सहसागत्य कलिङ्गहतकेन विपत्तिरीदृशी क्रियत इति यत्सत्यमुपपन्नमपि न श्रद्दधे। कथमेकान्तनिष्ठुरमीदृशं च दैवमस्मासु। येन सापि राजपुत्री 'यथा कथञ्चिदेनां वत्सराजायोपनीय स्वामिनमनृणं करिष्यामि' इति मत्वा मया तादृशादपि प्रलयकालदारुणादवस्कन्दसंभ्रमादपवाह्य देवस्य दृढवर्मणो मित्रभावान्वितस्यैवाटविकस्य नृपतेर्विन्ध्यकेतोर्गृहे स्थापिता सती, स्नानाय नातिदूरमित्यगस्त्यतीर्थं गते मयि, क्षणात्कैरपि निपत्य हते विन्ध्यकेतौ, रक्षोभिरिव निर्मानुषीकृते दग्धे

शक्तित्रयं यस्य तादृशस्य। मत्प्रार्थ्यमाना – मया याच्यमाना। बद्धानुशयेन = बद्धः = मनसि दृढीकृतः, अनुशयः = दीर्घवैरं येन तथोक्तेन। लब्धरन्ध्रेण – लब्धम् = प्राप्तम्, रन्ध्रम = छिद्रम्, अवसर इति यावत्, येन तेन। कलिङ्गहतकेन = अधमेन कलिङ्गराजेन। उपपन्नम् = घटितम्। श्रद्दधे = विश्वसिमि। एकान्तनिष्ठुरम् = अत्यन्तनिर्दयम्। अनृणम् = अविद्यमानम् ऋणं यस्य तथाविधम्। वत्सराजाय उपनीय = वत्सराजकरे समर्प्य। अवस्कन्दसंभ्रमात् = आक्रमणकालिकदुर्व्यवस्थातः। अपवाह्य = दूरमपसार्य। आटविकस्य = अटव्यां भव इत्याटविकस्तस्य, वनेनिवसत इत्यर्थः। निपत्य = सहसाऽऽगत्य। निर्मानुषीकृते = मानुषराहित्यं प्रापिते। निपुणम् = सम्यक्प्रकारेण। विचितम् = अन्वि-

---

तथा उत्साहशक्ति) से सम्पन्न रघु-दिलीप-नलतुल्य दृढवर्मा पर भी 'मैं जिस कन्या की प्रार्थना कर रहा था उसे इसने वत्सराज को दे दी'—ऐसा सोच कर अत्यन्त रुष्ट हो और 'वत्सराज बन्धन से छूटने को नहीं' – यह समझ, अच्छा अवसर भी पाकर दुष्ट कलिङ्ग ने सहसा आ कर ऐसी विपत्ति डाल दी, जिसका घटित होना, है तो सत्य फिर भी विश्वास नहीं होता। दैव हम लोगों पर कैसे इस तरह अत्यन्त निष्ठुर हो गया जिससे मेरे द्वारा वैसी भी राजकुमारी 'किसी तरह इसे वत्सराज के पास पहुँचा कर स्वामी के ऋण से मुक्त हो जाऊँ'—ऐसा सोच कर उस तरह के भी प्रलयकाल के समान भयानक आक्रमणकालिक दुर्व्यवस्था से दूर हटा कर देव दृढवर्मा के मित्र वन्यनृपति विन्ध्यकेतु के घर रखी गयी। स्नानार्थ अतिसमीपवर्ती अगस्त्य-

स्थाने, न ज्ञायते कस्यामवस्थायां वर्तत इति। निपुणं च विचितमेतन्मया सर्वस्थानम्। न च ज्ञातं किं तैरेव दस्युभिर्नीता, अथवा दग्धेति। तत्किं करोमि मन्दभाग्यः। (विचिन्त्य) अये एवं श्रुतं मया—'बन्धनात्परिभ्रष्टः प्रद्योततनयामपहृत्य वत्सराजः कौशाम्बीमागतः' इति किं तत्रैव गच्छामि। (निःश्वस्यात्मनोऽवस्थां पश्यन्) किमिव हि राजपुत्र्या विना तत्र गत्वा कथयिष्यामि। अये कथितं चाद्य मम विन्ध्यकेतुना—'मा भैषीः। जीवति तत्रभवान्महाराजो दृढवर्मा गाढप्रहारजर्जरीकृतो बद्धस्तिष्ठति' इति। तदधुना स्वामिनमेव गत्वा पादपरिचर्यया जीवित-

---

ष्टम्। दस्युभिः लुण्ठकैः। नीता = अपहृतेत्यर्थः। परिभ्रष्टः = मुक्तः। प्रद्योततनयाम्—प्रद्योतः = उज्जयिनीश्वरो महासेनः मगधेश्वर इति कथासरित्सागरे, तस्य तनयाम् = पुत्रीम्, वासवदत्तामित्यर्थः। कौशाम्बीम्—कुशाम्बेन निर्मितेति कौशाम्बी, वत्सराजस्योदयनस्य राजधानी ताम्। गाढप्रहारजर्जरीकृतः = गाढप्रहारेणविह्वलतामापादितः। पादपरिचर्यया = चरणसेवया। जीवितशेषम् =

तीर्थ को जब मैं चला गया, क्षण भर में किन्हीं लोगों ने आक्रमण कर विन्ध्यकेतु को मार डाला, राक्षसों की तरह उन दुष्टों ने उस स्थान को जला कर मानुषशून्य कर डाला। (ऐसी स्थिति में) न मालूम वह राजकुमारी किस हालत में है ? मैं ने इस पूरे स्थान को छान डाला परन्तु मुझे इस बात का पता नहीं चला कि क्या उसे वहीं लुटेरे ले गये या वह जल मरी। अब मैं अभागा क्या करूँ। (सोच कर) अरे, मैंने ऐसा सुना है कि वत्सराज बन्धन से मुक्त हो गये हैं और प्रद्योतकी कन्या (वासवदत्ता) का अपहरण कर कौशाम्बी आ गये हैं। क्या वहीं जाऊँ ? (लम्बी साँस लेकर, अपनी अवस्था देखता हुआ) राजपुत्री (प्रियदर्शिका) के विना वहाँ जाकर क्या कहूँगा ? अरे, आज ही तो बिन्ध्यकेतु ने मुझसे कहा था कि भय मत करो। पूजनीय महाराज दृढवर्मा जीवित हैं (हाँ) कठोर आघातों से क्षतविक्षत कर दिये गये हैं और बन्धन में हैं। अतः अब स्वामी के ही पास जा कर उनके चरणों की सेवा से अपने जीवन के शेष भाग को सफल करूँगा।

शेषमात्मनः सफलयिष्यामि। (परिक्राम्योर्ध्वमवलोक्य) अहो अतिदारुणता शरदातपस्य। यदेवमनेकदुःखसन्तापितेनापि मया तीक्ष्णोऽवगम्यते।

घनबन्धनमुक्तोऽयं कन्याग्रहणात्परां तुलां प्राप्य।
रविरधिगतस्वधामा प्रतपति खलु वत्सराज इव ॥ ५ ॥

[इति निष्क्रान्तः]

इति विष्कम्भकः।

जीवनस्यावशिष्टं भागम्। अतिदारुणता = अतितीक्ष्णता। कञ्चुकी शरत्कालिकं सूर्यं वर्णयति घनबन्धनेत्यादिना। घनबन्धनमुक्तः—घनानाम् = मेघानाम्, बन्धनम् = आच्छादनम्, तस्मान्मुक्तः, पक्षेः कारावासरूपं दृढं यत्प्रद्योतनृपकृतं बन्धनं तस्मान्मुक्तः, कन्याग्रहणात् —कन्यायाः = तदाख्यराशेः ग्रहणात् परां तुलाम् = तुलाराशिम् प्राप्य, पक्षे कन्यायाः = प्रद्योतकन्याया वासवदत्ताया ग्रहणात् = अपहरणात्, परां तुलाम् = परममुत्कर्षं प्राप्य, अधिगतस्वधामा—अधिगतम् = प्राप्तम्, स्वधाम् = स्वीयतेजो येन सः, पक्षेऽधिगतं स्वधाम = स्वगृहं कौशाम्बीति यावत् येन सः, रविः = सूर्यः, वत्सराज इव = उदयन इव, खलु इति प्रसिद्धौ, प्रतपति = नितरां दहति, पक्षे प्रतापवान् भवति। श्लेषमूलोपमा। आर्याजातिस्तल्लक्षणं यथा—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥' इति ॥ ५ ॥

विष्कम्भकः। तल्लक्षणं यथा—'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः। एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ॥'' इति।

(चल कर और ऊपर देख कर) शरद् ऋतु की धूप कैसी कठिन है ! जो इस प्रकार अनेक कष्टों से सन्तप्त किये जाने के वाद भी मुझे तीक्ष्ण लग रही है।

यह सूर्य मेघ के वन्धन से मुक्त हो, कन्याराशि में रहने के वाद तुलाराशि को प्राप्त कर अपने तेज से पुनः युक्त हो तप रहा है जैसे वत्सराज दृढ कारागार से मुक्त हो, (प्रद्योतकी) कन्या (वासवदत्ता) को ग्रहण करने से परम उत्कर्ष को प्राप्त हो कर अपनी राजधानी में पहुँच कर प्रताप से तप रहे हैं ॥ ५ ॥

(जाता है)

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च)

राजा—

भृत्यानामविकारिता परिगता दृष्टा मतिर्मन्त्रिणां
मित्राण्यप्युपलक्षितानि विदितः पौरानुरागोऽधिकम् ।
निर्व्यूढा रणसाहसव्यसनिता स्त्रीरत्नमासादितं
निर्व्याजादिव धर्मतः किमिव न प्राप्तं मया बन्धनात् ॥ ६ ॥

अथ वत्सराजो महासेनकृतबन्धनोपलब्धि प्रतिपादयति भृत्यानामित्यादिना ।

भृत्यानाम् = स्वदासानाम्, अविकारिता = विकृतत्वाभावः, परिगता = ज्ञाता, मम बन्धनावस्थितावपि मे भृत्याः पूर्ववदेव स्वामिभक्ता अज्ञायन्तेतिभावः । मन्त्रिणां मतिः = प्रज्ञा, दृष्टा = ज्ञातेत्यर्थः, मे मन्त्रिणो महत्स्वपि कार्यसङ्कटेष्वविषण्णधियः सन्तीति परीक्षितमिति भावः । मित्राणि, उपलक्षितानि = यथार्थतया ज्ञातानि, मे मित्राणि सन्मित्रलक्षणोपेतानीति विदितम्, (मयि) पौराणाम् = नागरजनानाम्, अनुरागः = स्नेहः, अधिकं यथा स्यात्तथा, विदितः = ज्ञातः, मयि पौरा अनुरज्यन्त इति विदितमिति भावः । रणसाहसव्यसनिता = रणे यत् साहसं तत्र व्यसनिता = आसक्तिः निर्व्यूढा = अनुष्ठिता, युद्धे यदपेक्षितं साहसं तन्निर्वोढुमप्यहं क्षम इति पूर्णतो मया प्रदर्शितमिति भावः । स्त्रीरत्नम् = वासवदत्तारूपं ललनारत्नम्, आसादितम् = प्राप्तम् । (तदित्थम्) मया निर्व्याजात् = निष्कपटतयाऽनुष्ठितात् धर्मतः = धर्मादिव

विष्कम्भक समाप्त

(तदनन्तर राजा और विदूषक का प्रवेश)

राजा—सच्चे भाव से अनुष्ठित धर्म से जिस प्रकार सभी पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार (प्रद्योत कृत) बन्धन से मैंने क्या नहीं प्राप्त कर लिया (अर्थात् सब कुछ प्राप्त कर लिया), (मेरी बन्धनावस्था में भी) मेरे भृत्य विकार-रहित पूर्ववत् स्वामिभक्त सिद्ध हुए, मन्त्रियों की (कार्यसङ्कटों में भी काम करने वाली) बुद्धिमत्ता का पता लग गया, मित्रों की पहिचान हो गयी, (मुझमें) पुरवासियों का सम्यक् रूप से अनुराग विदित

विदूषकः—(सरोषम्) **भो वयस्य, कथं तमेव दास्याः पुत्रं बन्धनहतकं प्रशंससि। तमिदानीं विस्मर। यं तथा नवग्रह इव गजपतिः खलखलायमानलौहशृङ्खलाबन्धप्रतिस्खलच्चरणः शून्यदुष्करहृदयसन्तापो रोषवशोत्तम्भितदृष्टिर्गुरुककरस्फोटितधरणिमार्गो रजनीष्वप्यनिद्रासुखमनुभूतोऽसि।** (भो वअस्स, कहं तं एव्व दासीए उत्तं बन्धणहदअं पसंसेसि।

बन्धनात् = प्रद्योतकृतबन्धनात् मया किमिव न प्राप्तम्, सर्वमपि प्राप्तमिति काक्वा ध्वनिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ ६॥

विदूषक इति। सरोषम्—रोषः = क्रोधस्तेन सह यथा स्यात्तथा, अत्र रोषो नृपकृतबन्धनप्रशंसाजन्य इति बोध्यम्। विदूषकः = नायकसहायेष्वन्यतमः। तल्लक्षणं यथा—'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेष भाषाद्यैः। हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः॥' इति साहित्यदर्पणे। दास्याः पुत्रम्=निन्दनीयम्। अत्र 'षष्ठ्या आक्रोशे इत्यलुक्, तेन निन्दा ध्वन्यते। नवग्रहः = नवबन्धनपतितः। खलखलायमानेत्यादिः—खलखलायमानः = 'खल-खल' इति शब्दं कुर्वन् यो लोहशृङ्खलाबन्धस्तेन प्रतिस्खलन्ती चरणौ यस्य सः। उभयत्र समानमेतत्। शून्यदुष्करहृदयसन्तापः—शून्यः = निरर्थकः, दुष्करः = सोढुमशक्य, हृदयस्य सन्तापो यस्य सः। रोषवशोत्तम्भितदृष्टिः – रोषवशेन = क्रोधावेगेनेत्यर्थः, उत्तम्भिता दृष्टिर्यस्य सः। गुरुककरस्फोटितधरणिमार्गः—गुरुकः = ईषल्लम्बो यः करः = बाहुः शुण्डा च तेन स्फोटितः = आहतः, धरणिमार्गः = भूतलो येन सः।

हो गया, युद्ध में अपेक्षित साहस के अनुष्ठान की अपनी क्षमता दिखा दी और (वासवदत्ता रूप) ललनारत्न (भी) प्राप्त कर लिया॥ ६॥

विदूषक— (क्रोध मे) अरे मित्र, क्यों उसी निन्दनीय मुए बन्धन की ही प्रशंसा किया करते हो। उसे अब भुला दो, जिसकी वजह से नये बन्धन में पड़े हुए हाथी की तरह तुम्हारे पैर लोहे की खनखनाती बेड़ियों की जकड़ से लड़खड़ाते थे, हृदय को निरर्थक और दुःसह सन्ताप होता था, आँखें क्रोध के आवेग से तनी रहती थीं, भूतल पर लम्बे कर (१-हाथ, २-सूँड) को पटकते रहते थे और रात को भी ठीक नींद नहीं आती थी।

तं दाणिं विसुमरेहि जं तह णवग्गहो विअ गअवई खलखलाअमाणलोहसिङ्खला-बन्धपडिक्खलन्तचलणो सुण्णदुक्खरहिअअसन्दावो रोसवसुत्तम्भिददिट्ठी गरुअ-करफोडिअधरणिमग्गो रअणीसु वि अणिद्दासुहं अणुहूदोसि ।)

राजा—वसन्तक, दुर्जनः खल्वसि । पश्य,

दृष्टं चारकमन्धकारगहनं नो तन्मुखेन्दुद्युतिः
पीडा ते निगडस्वनेन मधुरास्तस्या गिरो न श्रुताः ।
क्रूरा बन्धनरक्षिणोऽद्य मनसि स्निग्धाः कटाक्षा न ते
दोषान्पश्यसि बन्धनस्य न पुनः प्रद्योतपुत्र्या गुणान् ॥ ७ ॥

प्रद्योतकृतोदयनबन्धनं निन्दतं विदूषकं निभंर्त्सयन्नुदयन आह – **दृष्टमिति** । अन्धकारगहनम्—अन्धकारेण = तमसा, गहनम् = निबिडम्, चारकम् = कारा-गृहम् ('चारकं बन्धनालयः' इति वैजयन्ती) (त्वया) दृष्टम् = वीक्षितम्, मनसि ध्यातमित्यर्थः । तन्मुखेन्दुद्युतिः—तस्याः = वासवदत्तायाः मुखेन्दु-द्युतिः = मुखचन्द्रकान्तिः, नो = नैव दृष्टेति लिङ्गविपरिणामेनान्वयः । निगड-स्वनेन—निगडः = शृङ्खला, तस्य स्वनेन = शब्देन, ते = तव, विदूषकस्येत्यर्थः, पीडा = कष्टम् (जायते) तस्याः = वासवदत्तायाः, मधुराः = श्रुतिप्रियाः गिरः = वाचः, न श्रुताः । अद्य = सम्प्रति, ते मनसि = चित्ते, क्रूराः - निर्दयाः पापाचारिणः, बन्धनरक्षिणः—कारागृहरक्षकाः (एव) स्निग्धाः = प्रेमनिर्भराः, कटाक्षाः = कुटिलदृक्पाताः, वासवदत्ताया इति भावः । न (सन्ति) । (तदेवं त्वं) बन्धनस्य दोषान् = अवगुणान् पश्यसि, प्रद्योतपुत्र्याः = वासवदत्तायाः गुणान् = सौन्दर्यस्नेहादीन् न पुनः पश्यसि । त्वया कारावासस्य दोषैः सह तस्य गुणा अपि द्रष्टव्या इति भावः ॥ पूर्वोक्तं वृत्तम् ॥ ७ ॥

राजा—वसन्तक, तुम दुष्ट हो, देखो—

तुमने अन्धकाराच्छन्न कारागृह को ही देखा, उस (वासवदत्ता) के मुखचन्द्र की कान्ति को नहीं। वेड़ियों की खनखनाहट से तुमने पीडा का अनुभव किया (किन्तु) उस (वासवदत्ता) की मधुर आवाज तुमने नहीं सुनी । तुम्हारे मन में इस समय कारागार के क्रूर प्रहरी ही हैं, उस (वासव-दत्ता) के स्निग्ध कटाक्ष नहीं ! इस तरह बन्धन के दोषों को तो तुम देखते हो, किन्तु प्रद्योतपुत्री (वासवदत्ता) के गुणों को नहीं ॥ ७ ॥

विदूषकः—(सगर्वम्) **भो यदि तावद्बन्धनं सुखनिबन्धं भवति। तत्कस्मात्त्वं दृढवर्मा बद्ध इति कलिङ्गराजस्योपरि रोषं बध्नासि।** (भो जइ दाव बन्धणं सुहणिवन्धणं होइ। ता कीसं तुमं दिढवम्मा वद्धोत्ति कलिङ्गरण्णो उवरि रोसं बन्धेसि।)

राजा—(विहस्य) **धिङ्मूर्ख न खलु सर्वो वत्सराजः। य एवं वासवदत्तामवाप्य बन्धनान्निर्यास्यति। तदास्तां तावदियं कथा। विन्ध्यकेतोरुपरि बहून्यहानि विजयसेनस्य प्रेषितस्य। न चाद्यापि तत्सकाशात्कश्चिदागतः। तदाहूयतां तावदमात्यो रुमण्वान्। तेन सह किञ्चिदालपितुमिच्छामि।**

(प्रविश्य)

विदूषक इति। सुखनिबन्धनम् = सुखकरमिति भावः। रोषं बध्नासि = कोपं करोषि। बन्धनं सुखदं चेत्तर्हि त्वं कलिङ्गराजाय कथं कुप्यसि? स तु दृढवर्माणं बद्ध्वा सुखिनमेव कर्तुं प्रयतमानोऽस्ति। तद्बन्धनं दुःखदमेवेति मे मतमिति विदूषकोक्तेरभिप्रायः।

राजेति। न खलु सर्वो वत्सराजः—न हि बन्धनं सर्वेषां सुखाय किन्तु भाग्योपचयान्मादृशस्य कस्यचिदेवेति। स्वबन्धनं वासवदत्ताऽवाप्त्या प्रशंसामि किन्तु दृढवर्मणो बन्धनं न मन्ये सुष्ठुतरमिति वत्सराजोक्तेरभिप्रायः।

विदूषक—(गर्वपूर्वक) अजी, यदि बन्धन सुखदायी होता है तो क्यों तुम—"दृढवर्मा को बाँध रक्खा है" इसीलिए कलिङ्गराज के ऊपर क्रोध किये रहते हो?

राजा—(हँसकर) छिः छिः मूर्ख! सभी वत्सराज तो नहीं हैं जो वासवदत्ता को लेकर बन्धन से निकल जाँयगे। यह चर्चा छोड़ो। विन्ध्यकेतु के ऊपर आक्रमण के लिए विजयसेन को भेजे हुए बहुत दिन हो गये किन्तु अभी तक उसके पास से कोई आया नहीं। तो जरा अमात्य रुमण्वान् को बुलाओ। उनसे कुछ बात करना चाहता हूँ।

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—जयतु जयतु देवः। एष खलु विजयसेनः, अमात्यो रुमण्वानपि प्रतीहारभूमिमुपस्थितौ। (जेदु जेदु देव्वो। एसो क्खु विजअसेनो अमच्चो रुमण्णो वि पडिहारभूमिं उवट्ठिआ।)

राजा—त्वरितं प्रवेशय तौ।

प्रतीहारी--यद्देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि।)

[इति निष्क्रान्ता]

(ततः प्रविशति रुमण्वान्विजयसेनश्च)

रुमण्वान्--(विचिन्त्य)

तत्क्षणमपि निष्क्रान्ताः कृतदोषा इव विनापि दोषेण।
प्रविशन्ति शङ्कमाना राजकुलं प्रायशो भृत्याः॥ ८॥

प्रतीहारीति। प्रतीहारभूमिम् = द्वारम्।

रुमण्वान् राजकुलं प्रविशन् स्वमनःस्थितिं प्रतिपादयति—**तत्क्षणमपी**त्यादिना। तत्क्षणमपि = तस्मिन्नेव क्षणे, निष्क्रान्ताः = नृपतिपार्श्वात् बहिर्गताः भृत्याः दोषेण विनाऽपि = अकृतदोषा अपि, कृतदोषा इव = अपराद्धा इव, शङ्कमानाः = शङ्कायुतमनसः, प्रायशः = भूयसा, राजकुलं प्रविशन्ति। अकृतदोषोऽप्यहं राजकुलं प्रविशन् शङ्कयाऽऽत्मानं कृतदोषमिवानुभवामीत्यहो राजकुलातङ्क इति रुमण्वदुक्तेरभिप्रायः। स्वभावोक्तिरलङ्कारः। आर्या जातिः॥ ८॥

प्रतीहारी—जय हो महाराज की, जय हो। यह विजयसेन और अमात्य रुमण्वान् प्रतीक्षा स्थान (प्रतीहारभूमि) में खड़े हैं।

राजा—शीघ्र उन्हें भीतर लाओ।

प्रतीहारी—महाराज की जो आज्ञा।

[जाती है]

(तदनन्तर रुमण्वान् और विजयसेन का प्रवेश)

रुमण्वान्—(सोचकर)

अभी-अभी राजा के पास से बाहर निकले हुए भृत्य (भी), कोई अपराध न करने पर भी, मानो अपने से कोई अपराध हो गया हो, ऐसा मानते हुए सशङ्कभाव से प्रायः राजकुल में प्रवेश करते हैं॥ ८॥

(उपसृत्य) **जयतु देवः ।**

राजा--(आसनं निर्दिश्य) **रुमण्वन्, इत आस्यताम् ।**

रुमण्वान्-- (सस्मितमुपविश्य) **एष खलु जितविन्ध्यकेतुर्विजयसेन प्रणमति ।**

(विजयसेनस्तथा करोति)

राजा--(सादरं परिष्वज्य) **अपि कुशली भवान् ।**

विजयसेनः—अद्य स्वामिनः प्रसादात् ।

राजा--विजयसेन, स्थीयताम् ।

(विजयसेन उपविशति)

राजा--विजयसेन, कथय विन्ध्यकेतोर्वृत्तान्तम् ।

विजयसेनः—देव ! किमपरं कथयामि । यादृशः स्वामिनि कुपिते।

विजयसेन इति । यादृशः स्वामिनि कुपिते—स्वामिनि = देवे, कुपिते = क्रुद्धे सति, यादृशः = अतिदारुणः, (परिणामो भवति, विन्ध्यकेतुना स भुक्तः) मृतो विन्ध्यकेतुरितिभावः ।

(समीप जाकर) महाराज की जय हो।

राजा—(आसन दिखाकर) रुमण्वन्, इधर बैठिए ।

रुमण्वान्—(मुस्कराते हुए बैठकर) यह विन्ध्यकेतु को जीतने वाले विजयसेन प्रणाम कर रहे हैं।

(विजयसेन प्रणाम करते हैं)

राजा—(सादर आलिङ्गन कर) आप अच्छे तो हैं ?

विजयसेन—अब आप की कृपा से ।

राजा—विजयसेन, आप बैठिये ।

(विजयसेन बैठ जाता है)

राजा—विजयसेन, विन्ध्यकेतु का वृत्तान्त कहिए ।

विजयसेन—महाराज, और क्या कहूँ, आपके कुपित होने पर जैसा होना चाहिए (वैसा ही है)।

राजा—तथापि विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि।

विजयसेनः—देव, श्रूयताम्। इति वयं देवपादादेशाद्यथादिष्टेन करितुरगपदातिसैन्येन महान्तमप्यध्वानं दिवसत्रयेणोल्लङ्घ्य प्रभातबेलायामतर्किता एव विन्ध्यकेतोरुपरि निपतिताः स्मः।

राजा—ततस्ततः।

विजयसेनः—ततः सोऽप्यस्मद्बलतुमुलकलकलाकर्णनेन प्रतिबुद्धः केसरीव विन्ध्यकन्दरान्निर्गत्य विन्ध्यकेतुरनपेक्षितबलवाहनो यथासन्निहितकतिपयसहायः सहसा स्वनामोद्घोषयन्नस्मानभियोद्धुं प्रवृत्तः।

देवपादादेशात् = भवदाज्ञया। यथादिष्टेन = भवता निर्दिश्यमानप्रकारेण। करितुरगपदातिसैन्येन=हस्त्यश्वपदचारिसैन्येन। दिवसत्रयेण = त्रिभिर्दिनैः,(अपवर्गे तृतीया)। अतर्किता एव = अननुमितागमना एव। निपतिताः = आक्रमणं कृतवन्तः।

अस्मद्बलतुमुलकलकलाकर्णनेन—अस्माकं बलस्य = सैन्यस्य, तुमुलः = घोरः, यः कलकलः = शब्दः, तस्य आकर्णनेन = श्रवणेन। अनपेक्षितबलवाहनः = बलं च वाहनानि च तेषां समाहारः बलवाहनम्, अनपेक्षितम् = अनाकलितम्, बलम् = सैन्यम्, वाहनानि = गजतुरगरथादीनि येन स तथोक्तः।

यथा सन्निहितकतिपयसहायः – यथा सन्निहिताः कतिपये सहाया यस्य सः, पार्श्ववर्तिभिः कतिपयैरेव सहायकैरनुगत इत्यर्थः।

राजा—फिर भी विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

विजयसेन—देव, सुनें। हम लोग आपके आदेश से यहाँ से चल कर आप के निर्देशानुसार हाथी, घोड़े और पैदल सेना के साथ लम्बे मार्ग को भी तीन दिनों में तय करके प्रभात वेला में अचानक ही विन्ध्यकेतु के ऊपर टूट पड़े।

राजा—उसके बाद ?

विजयसेन—उसके बाद वह विन्ध्यकेतु भी हमारी सेना के घोर कलकल नाद के सुनने से जगे हुए सिंह के समान विन्ध्य की गुहा से निकल कर सेना और वाहन की अपेक्षा न कर, समीपवर्ती कतिपय सहायकों को साथ लेकर सहसा अपने नाम का उद्घोष करता हुआ हमसे लड़ने लगा।

राजा–(रुमण्वन्तमवलोक्य सस्मितम्) शोभितं विन्ध्यकेतुना । ततस्ततः ।

विजयसेनः—ततोऽस्माभिः 'अयमसौ' इति द्विगुणतरबद्धमत्सरोत्साहैर्महता विमर्देन निःशेषितसहाय एक एव विमर्दिताधिकबलक्रोधवेगो दारुणतरं सम्प्रहारमकरोत् ।

राजा—साधु विन्ध्यकेतो, साधु साधु ।

विजयसेनः—किं वा वर्ण्यते । देव, संक्षेपतो विज्ञापयामि ।

पादातं पत्तिरेव प्रथमतरमुरः पेषमात्रेण पिष्ट्वा

राजेति । शोभितम् = शोभनं कृतम् (भावे क्तः) ।

विजयसेन इति । द्विगुणतरवद्धमत्सरोत्साहैः—अतिशयेन द्वौ गुणौ यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा वद्धः, मत्सरः = द्वेषः, उत्साहश्च यैस्ते तथोक्तास्तैः । विमर्दैन = आक्रमणेन । निःशेषितसहायः—निःशेषिताः हताः सहाया यस्य स तथोक्तः । विमर्दिताधिकवलक्रोधवेगः—विमर्दितेन स्वसहायानां विनाशेन, अधिकः = वृद्धिं गतः, वलस्य क्रोधस्य च वेगो यस्य स तथाभूतः । सम्प्रहारम् = युद्धम् ।

विजयसेनो विन्ध्यकेतोर्युद्धं वर्णयति—**पादातमित्यादिना** । (विन्ध्यकेतुः) पत्तिः = पादचारी एव सन्, प्रथमतरम् = आदौ, उरःपेषमात्रेण—उरसा =

राजा—(रुमण्वान् की ओर देखकर, मुस्कराते हुए) विन्ध्यकेतु ने अच्छा किया । उसके वाद ?

विजयसेन—उसके वाद, 'यही वह विन्ध्यकेतु है'—इस ख्याल से हमारा द्वेष और उत्साह दूना हो गया और हमने जोरदार आक्रमण से उसके सभी सहायकों को समाप्त कर दिया । फिर भी साथियों के मारे जाने से उसके वल और क्रोध का वेग अधिक हो गया और अकेले ही उसने अत्यन्त भयङ्कर युद्ध किया ।

राजा—वाह विन्ध्यकेतु, वाह वाह !!

विजयसेन—क्या वर्णन करूँ । देव, संक्षेप में वताता हूँ ।

सवसे पहिले पैदल चलकर उसने पैदल सैनिकों को छाती से दवाकर मसल दिया, वाणों से घोड़ों को मृग कुल के समान त्रस्त कर दूर दिशाओं में

दूरन्नीत्वा शरौघैर्हरिणकुलमिव त्रस्तमश्वीयमाशाः।
सर्वत्रोत्सृष्टसर्वप्रहरणनिवहस्तूर्णमुत्खाय खड्गं
पश्चात्कर्तुं प्रवृत्तः करिकरकदलीकाननच्छेदलीलाम् ॥ ९ ॥
एवं बलत्रितयमाकुलमेक एव
कुर्वन्कृपाणकिरणच्छुरितांसकूटः।

स्ववक्षसा यः पेषः = घर्षणम्, तन्मात्रेण, पादातम् = पदातिसमूहम्, ('भिक्षादिभ्योऽण्' इति सूत्रेणाण्) पिष्ट्वा = चूर्णयित्वा, विनाश्येत्यर्थः। (तदनन्तरम्) शरौघैः=शरसमूहैः, बाणवृष्टिभिरिति यावत्। त्रस्तम् = भीतम्, हरिणकुलम् = मृगयूथमिव, अश्वीयम् = अश्वसमूहम् ('केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' इति छः) दूरात् = दूरम्, आशाः = दिशः, नीत्वा = प्रापय्य, दूरं विद्राव्येत्यर्थः। सर्वत्र = सर्वेषु स्थानेषु, उत्सृष्टसर्वप्रहरणनिवहः—उत्सृष्टः = मुक्तः, सर्वेषाम् = सर्वविधानाम्, प्रहरणानाम् = आयुधानां, निवहः = समूहो येन स तथोक्तः, तूर्णम् = शीघ्रम्, खड्गम् = असिम्, उत्खाय = कोशादाकृष्य, पश्चात् = तदनन्तरम्, करिकरकदलीकाननच्छेदलीलाम् – करिणाम् = गजानाम्, कराः = शुण्डा एव कदल्यः, तासां काननम् = वनम्, तस्य छेदलीलाम् = कर्त्तनकेलिम्, अनायासेन खण्डनमिति भावः। कर्तुं प्रवृत्तः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ९ ॥

एवमिति। एवम् = अनेन प्रकारेण, एकः = सहायान्तररहितः, एव, बलत्रितयम् = हस्त्यश्वपदातिरूपं सैन्यम्, आकुलम् = पीडितम्, कुर्वन्, कृपाणकिरणच्छुरितांसकूटः—कृपाणस्य = खड्गस्य, किरणैः, छुरितः = लिप्तः, अंसकूटः= स्कन्धशिखरप्रदेशो यस्य स तथाभूतः। शस्त्रप्रहारशतजर्जरितोरुवक्षाः—शस्त्राणां प्रहारशतैः = अस्मज्जनकृतप्रचुरशस्त्रप्रहारैः, जर्जरितम् = क्षतविक्षतम्, उरु = विशालम्, वक्षः = हृदयं यस्य स तादृशः, श्रान्तः = श्रान्तिमापन्नः, योद्धुमक्षमः

खदेड़ दिया। उसने सर्वत्र सब प्रकार के आयुध विकीर्ण कर दिये। बाद में वह तलवार म्यान से निकाल कर हाथियों की सूड़ों को कदली वन के समान काटने लगा ॥ ९ ॥

इस प्रकार खड्ग की चमक से चमचमाते उन्नत कन्धों वाला विन्ध्यकेतु अकेला ही हाथी-घोड़े-पैदल तीनों प्रकार के सैन्य को पीडित करता

शस्त्रप्रहारशतजर्जरितोरुवक्षाः
श्रान्तश्चिराद्विनिहतो युधि विन्ध्यकेतुः ॥ १० ॥

राजा--रुमण्वन्, सत्पुरुषोचितं मार्गमनुगच्छतो यत्सत्यं व्रीडिता एव वयं विन्ध्यकेतोर्मरणेन ।

रुमण्वान्—देव, त्वद्विधानामेव गुणैकपक्षपातिनां रिपोरपि गुणाः प्रीतिं जनयन्ति ।

राजा—विजयसेन, अप्यस्ति विन्ध्यकेतोरपत्यम् ? यत्रास्य परितोषस्य फलं दर्शयामि ।

इत्यर्थः, विन्ध्यकेतुः, चिरात् = सुचिरं युद्धं कृत्वा, युधि = सङ्ग्रामे, विनिहतः = मारितः । अत्र नवमे दशमे च द्वयोरपि पद्ययोरुदात्तालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते । यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥'' इति । वसन्ततिलका वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा – 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।' इति ॥ १० ॥

राजेति । सत्पुरुषोचितम् = वीरपुरुषोचितम् । मार्गम् = पन्थानम्, सम्मुखयुद्धे मरणरूपमार्गमित्यर्थः । व्रीडिताः = लज्जिताः । रणेऽभिमुखो हतो विन्ध्यकेतुः स्वर्गमवाप्नोत्किन्त्वेतेन वयं लज्जिता एव, बहुभिर्मिलित्वैको हत इति क्षात्रधर्मविरोधादित्याशयः ।

हुआ (अन्त में) हमारे प्रचुरशस्त्रों के प्रहार से विशालवक्षः स्थल के जर्जर हो जाने पर, देर तक लड़ते-लड़ते थक गया और संग्राम में मारा गया ॥१०॥

राजा—रुमण्वन्, वीर पुरुष के मार्ग पर चलने वाले विन्ध्यकेतु के मरण से वास्तव में हम लज्जित ही हैं ।

रुमण्वान्--महराज, आप ऐसे ही गुणज्ञों को ही शत्रु के भी गुण आनन्दप्रद होते हैं ।

राजा--विजयसेन, क्या विन्ध्यकेतु की कोई सन्तान है जिस पर इस परितोष का फल दिखाऊं ।

विजयसेनः—देव, इदमपि विज्ञापयामि। एवं सबन्धुपरिवारे हते विन्ध्यकेतौ, तमनुसृतासु सहधर्मचारिणीषु, विन्ध्यशिखराश्रितेषु जनपदेषु, शून्यभूते तत्स्थाने 'हा तात हा तात' इति कृतकृपणप्रलापा विन्ध्यकेतोर्वेश्मन्याभिजात्यानुरूपा कन्यका 'तद्दुहिता' इत्यस्माभिरानीता द्वारि तिष्ठति। तां प्रति देवः प्रमाणम्।

राजा—यशोधरे, गच्छ गच्छ। त्वमेव वासवदत्तायाः समर्पय। वक्तव्या च देवी—'भगिनीबुद्ध्या त्वयैव सर्वदा द्रष्टव्या। गीतनृत्तवाद्यादिषु विशिष्टकन्यकोचितं सर्वं शिक्षयितव्या। यदा वरयोग्या भविष्यति

विजयसेन इति। सबन्धुपरिवारे बन्धुभिः परिवारैश्च सहिते। सहधर्मचारिणीषु = विन्ध्यकेतोः पत्नीषु। तमनुसृतासु = विन्ध्यकेतुना सह सतीभावं प्राप्तासु। जनपदेषु विन्ध्यशिखराश्रितेषु जनसमुदायेषु विन्ध्यशिखरप्रदेशं गतेषु सत्सु। कृतकृपणप्रलापा – कृतः कृपणः = करुण इत्यर्थः, प्रलापः = क्रन्दनं यया सा, करुणं क्रन्दन्तीत्यर्थः। वेश्मनि = गृहे। आभिजात्यानुरूपा—आभिजात्यम्= कुलीनता, तस्यानुरूपा। तां प्रति देवः प्रमाणम्—तां प्रति यत्कर्तव्यं तदादिशतु देव इति भावः।

राजेति। विशिष्टकन्यकोचितम्—उत्तमकुलोत्पन्नकन्यायोग्यम्।

विजयसेन—देव, यह भी बताता हूँ। इस प्रकार बन्धु-परिवार समेत विन्ध्यकेतु के मारे जाने पर और उसकी स्त्रियों के सती हो जाने पर, जनपद के लोगों के विन्ध्यशिखर पर भाग जाने पर एवम् उस स्थान के उजड़ जाने पर, 'हा तात हा तात' करुण क्रन्दन करती हुई, सत्कुलोत्पन्न-सी मालूम पड़ने वाली एक कन्या उसके घर में मिली। 'उस (विन्ध्यकेतु) की लड़की है'--ऐसा समझ कर हम उसे ले आये हैं, वह द्वार पर खड़ी है। इसके प्रति आप की जैसी आज्ञा।

राजा--यशोधरे, जाओ, जाओ, तुम्हीं उसे वासवदत्ता के हवाले करो और देवी से कहना कि तुम्हीं बहिन समझ कर इसकी सदा देख-भाल करते रहना एवं गीत, नृत्य, वाद्य आदि में विशिष्ट कन्या के समान पूरी शिक्षा

तदा मां स्मारय' इति।

प्रतीहारी—यद्देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि)

(इति निष्क्रान्ता)

(नेपथ्ये वैतालिकः)

लीलामज्जनमङ्गलोपकरणस्नानीयसम्पादिनः
सर्वान्तःपुरवारविभ्रमवतीलोकस्य ते सम्प्रति।

वैतालिक इति। वैतालिकः = विविधेन तालेन चरतीति वैतालिकः। 'चरति' (पा० ४।४।८) इति ठक्। विविधस्तालः प्रयोजनमस्येति वा विग्रहे 'प्रयोजनम्' (पा० ५।१।१०९) इति ठञ्। वैतालिको हि राजभवने समयविधेयादि गीतद्वारा सूचयति। उक्तञ्च भावप्रकाशे—'तत्तत्प्रहरकयोग्यै रागैस्तत्कालवाचिकैः श्लोकैः। सरभसमेव वितालं गायन् वैतालिको भवति॥' इति।

लीलामज्जनेति। ते = तव, वत्सराजस्येत्यर्थः। स्नान भूः = स्नानाय कल्पिता भूमिः, सम्प्रति = इदानीम्, लीलामज्जनमङ्गलोपकरणस्नानीयसम्पादिनः लीलया = सविलासं यन्मज्जनम् = स्नानं, तदेव मङ्गलं कल्याणसाधकतया शुभं कर्म तस्योपकरणानि यानि स्नानीयानि—स्नान्त्येभिरिति स्नानीयानि ('कृत्यल्युटो वहुलम्' ३।१।११३ इति अनीयर्) स्नानोपयुक्तगन्धचूर्णादीनि, तानि सम्पादयितुं शीलमस्येति तस्य। सर्वान्तःपुरवारविभ्रमवतीलोकस्य = सर्वो योऽन्तःपुरस्य वारविभ्रमवतीलोकः = वाराङ्गनाजनः, तस्य। आयासस्खलदंशुकाव्यवहितच्छायावदातैः— आयासेन = स्नानोपकरणसम्पादनविषयकव्यग्रतया, स्खलत् = स्वस्थानात् स्रंसमानं यदंशुकम् = स्तनोत्तरीयं वस्त्रम्, तेन अव्यवहिता =

दिलाना। जब वर योग्य होगी तब मुझे याद दिलाओ।

प्रतीहारी—जो महाराज की आज्ञा।

(जाती है)

(नेपथ्य में वैतालिक)

तुम्हारे सविलास स्नानमङ्गल के निमित्त स्नानीय चूर्ण आदि सामग्री को जुटाने वाली अन्तःपुर की सब वाराङ्गनाओं के, आपा-धापी में वस्त्र

आयासस्खलदंशुकाव्यवहितच्छायावदातैः स्तनै-
रुत्क्षिप्तापरशातकुम्भकलशेवालङ्कृता स्नानभूः ॥ ११ ॥

राजा--(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये कथं नभोमध्यमध्यास्ते भगवान्सहस्र-दीधितिः सम्प्रति हि,

आभात्यर्कांशुतापक्वथदिव शफरोद्वर्तनैर्दीर्घिकाम्भ-
श्छत्राभं नृत्तलीलाशिथिलमपि शिखी बर्हभारं तनोति ।

अनाच्छन्ना, स्पष्टं दृश्यमानेत्यर्थः, या छाया = कान्तिः, तया अवदातैः = गौर-त्वेन भासमानैः । स्तनैः = कुचैः, उत्क्षिप्तापरशातकुम्भकलशेव—उत्क्षिप्ताः = ऊर्ध्वं धृताः, अपरे = जलपूर्णस्वर्णकलशेभ्योऽतिरिक्ताः, शातकुम्भस्य = सुवर्णस्य कलशा यस्यां सा तादृशीव । ('तपनीयं शातकुम्भं रुक्मं हेम च हाटकम्' इति पारिजा-तकोशः) अलङ्कृता (विभातीति शेषः) ।

स्नानोपकरणसम्पादने व्यग्रतया स्तनोत्तरीयस्य स्खलनात् स्पष्टं दृश्यमानै-र्वारवनितानां गौरकुचैः स्नानभूमिरेवमुपलक्ष्यते यदस्यामधःस्थित जलपूर्णस्वर्ण-कलशेभ्योऽतिरिक्ता अपि स्वर्णघटा ऊर्ध्वं स्थापिताः सन्तीति भावः । उत्प्रेक्षाऽ-लङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

राजेति । नभोमध्यम् = आकाशमध्यभागम् । सहस्रदीधितिः = सूर्यः ।

राजा मध्याह्नवेलां वर्णयति--आभातीत्यादिना । दीर्घिकायाः = वाप्याः, अम्भः = जलम्, शफरोद्वर्तनैः—शफराणाम् = मत्स्यविशेषाणाम्, उद्वर्तनैः = उत्प्लवनैः, अर्कांशुतापक्वथदिव — अर्कांशुतापेन = सूर्यकिरणसन्तापेन क्वथदिव आभाति = प्रतीयते । तप्ते पयसि शफरा उद्वर्तन्ते, मन्ये वाप्या जलं सूर्य-सन्तापेन क्वाथावस्थां गच्छदिवोच्छलतीति स्पष्टार्थः । शिखी = मयूरः,

---

खिसक जाने से गोरे-गोरे उघड़े दिखायी देने वाले स्तनों से स्नान-भूमि ऐसी मालूम पड़ रही है कि मानों वहाँ पर दूसरे स्वर्णघट (भी) ऊपर उठा कर रखे गये हों ॥ ११ ॥

राजा—(ऊपर की ओर देख कर) क्यों, भगवान् सूर्य आकाश के मध्य में पहुँच गये । इस समय—

शफरी नामक छोटी-छोटी मछलियों के उछलते रहने से ऐसा

छायाचक्रं तरूणां हरिणशिशुरुपैत्यालवालाम्बुलुब्धः
सद्यस्त्यक्त्वा कपोलं विशति मधुकरः कर्णपालीं गजस्य ॥१२॥

रुमण्वन्, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। प्रविश्याभ्यन्तरमेव कृतयथोचितक्रियाः सत्कृत्य विजयसेनं कलिङ्गोच्छित्तये प्रेषयामः।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति प्रथमोऽङ्कः।

नृत्तलीलाशिथिलमपि—नृत्तलीलया = नर्तनक्रीडया, शिथिलम् = विस्रस्तम् अपि, बर्हभारम् = पिच्छसमूहम्, छत्राभम् = आतपादात्मानं त्रातुमातपत्रमिव. तनोति= विस्तारयति। हरिणशिशुः = मृगशावकः, आलवालाम्बुलुब्धः—आ = समन्तात् लवान् = जललवान् आलातीत्यालवालम् = वृक्षमूलं परितस्तत्सेचनार्थं जलावस्थानाय निर्मितं गर्तम् तस्मिन् यदम्बु = जलम्, तस्मिन् लुब्धः सन् तरूणाम् = वृक्षाणाम्, छायाचक्रम् = मण्डलाकारां छायाम्, उपैति = उपसर्पति। मधुकरः = भ्रमरः, सद्यः = तत्कालम्, गजस्य कपोलम् = गण्डस्थलं त्यक्त्वा, कर्णपालीम् = श्रोत्रपुटं, विशति = प्रविशति, सूर्यकिरणसन्तापादिति भावः। स्वभावोक्तिरलंकारः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १२ ॥

इति कल्याण्याख्यायां प्रियदर्शिकाव्याख्यायां प्रथमोऽङ्कः।

लग रहा है कि मानों वापी का जल सूर्य के ताप से उबल रहा हो। नाचने से शिथिल होने पर भी पिच्छसमूह को मयूर (धूप से बचने के लिए) छाते की तरह फैला रहा है। वृक्षों के आल-वाल (थाला) में विद्यमान जल के लोभ से मृगों के बच्चे वृक्षों के छाया-मण्डल में जा रहे हैं और भ्रमर तत्काल गज के कपोलप्रदेश को छोड कर (धूप से बचने के लिए) उसके श्रोत्रपुट में प्रवेश कर रहे हैं ॥ १२ ॥

रुमण्वन्, उठो उठो। भीतर ही चल कर यथोचित क्रिया सम्पन्न कर विजय सेन को सत्कृत कर कलिङ्गराज को उच्छिन्न करने के लिए भेजें।

[सब का प्रस्थान]

प्रथम अङ्क समाप्त

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः--ननु भणितोऽस्मीन्दीवरिकया, यथा--'आर्य' उपवास-नियमस्थिता देवी वासवदत्ता स्वस्तिवायननिमित्तं शब्दापयेत्' इति। तद्यावद्धारागृहोद्यानदीर्घिकायां स्नात्वा देवीपार्श्वं गत्वा कुक्कुटवादं करि-

---

विदूषक इति। उपवासनियमस्थिता = उपवासव्रतपरा। स्वस्तिवायन-निमित्तम्--स्वस्तिवायनम् = स्वस्थिवाचनार्थमुपायनम्, तन्निमित्तम्। शब्दाप-येत् = आपनं प्रापणमित्यापः, शब्दस्याप इति शब्दापः, शब्दापं करोतीति शब्दापयति ततो विधि लिङ्रूपम्, आह्वयेदित्यर्थः, 'शब्दायेत' इति पाठान्तरे शब्दं करोतीति शब्दायते 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इति क्यङ्, ततो विधि लिङ्रूपम्, शब्दायेत = आह्वयेदित्यर्थः। धारागृहोद्यानदीर्घिकायाम्-धारागृहम् = धारायन्त्रयुक्तं गृहम्, तस्योद्याने या दीर्घिका = वापी, तस्याम्।

(तदनन्तर विदूषक का प्रवेश)

विदूषकः—इन्दीवरिका ने मुझसे कहा है—'आर्य, उपवास नियम में स्थित देवी वासवदत्ता स्वस्तिवाचननिमित्तक उपायन (स्वस्तिवायन) के लिए संभवतः बुलायें'। अतः तब तक धारागृह के उद्यान की वापी में स्नान कर देवी के पास जाकर कुक्कुटवाद (दम्भार्थ वेद न जानते हुए भी उच्च स्वर से वेद पाठ) करूंगा अन्यथा हम-जैसे ब्राह्मण राजकुल में क्यों कर दान ग्रहण कर सकते हैं। क्यों, यह प्रियवयस्य (वत्सराज) देवी के विरह से उत्पन्न उत्कण्ठा का शयन करने, धारा गृह के उद्यान की ओर ही जा रहे हैं। तब तो वयस्य के साथ ही जा कर यथोक्त कार्य का सम्पादन करूंगा।

ष्यामि । अन्यथा कथमस्माभिः सदृशा ब्राह्मणा राजकुले प्रतिग्रहं कुर्वन्ति । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) **कथमेष प्रियवयस्योऽद्य देव्या विरहोत्कण्ठाविनोदननिमित्तं धारागृहोद्यानमेव प्रस्थितः । तद्यावद्वयस्येन सहैव गत्वा यथोदितमनुष्ठास्यामि ।** (णं भणिदोह्मि इन्दीवरिआए, जह – 'अज्ज, उववास णिअमठ्ठिआ देवी वासवदत्ता सोत्थिवाअणणिमित्तं सद्दावेदि'त्ति । ता जाव धाराधरुज्जाणदिग्धिआए ण्हाइअ देवीपासं गदुअ कुक्कटवादं करिस्सं । अण्णहा कहं अह्माणं सरिसा वह्मणा राअकुले पडिग्गहं करेन्ति । कहं एसो पिअवअस्सो अज्ज देवीए विरहुक्कण्ठाविणोदणिमित्तं धाराघरुज्जाणं एव्व पत्थिदो । ता जाव वअस्सेण सह एव्व गदुअ जहोदिदं अणुचिठ्ठिस्सं)

(ततः प्रविशति सोत्कण्ठो राजा)

राजा—

क्षामां मङ्गलमात्रमण्डनभृतं मन्दोद्यमालापिनी-
मापाण्डुच्छविना मुखेन विजितप्रातस्तनेन्दुद्युतिम् ।

कुक्कुटवादम् = कुक्कुटरुतिमिवरुतम्, दम्भपूर्वकं वेदमजानन्नप्युच्चैः पठनमिति भावः । प्रतिग्रहम् = दानग्रहणम् । विरहोत्कण्ठाविनोदननिमित्तम् – विरहोत्कण्ठा = विरहजनितातुरता, तस्याः विनोदनम् = अपनयनम्, तन्निमित्तम् ।

वासवदत्तां द्रष्टुं सोत्कण्ठो राजा वासवदत्तायाः देहावस्थां वर्णयति – क्षामामित्यादिना नियमोपवासविधिना – नियमोपवासानुष्ठानेन, क्षामां = अतिकृशाम्, मङ्गलमात्रमण्डनभृतम् – मङ्गलमात्राणि = सौभाग्यसूचकान्येव, मण्डनानि = आभरणानि विभर्तीति ताम्, सौभाग्यसूचकमात्रकतिपयालङ्कारधारिणीमित्यर्थः, मन्दोद्यमालापिनी—मन्दं मन्दमतिप्रयत्नेन भाषमाणाम्, आपाण्डुच्छ-

---

(तदनन्तर सोत्कण्ठ राजा का प्रवेश)

राजा—नियमोपवास के अनुष्ठान से अतिकृश, केवल सौभाग्य सूचक आभरणों को ही धारण करने वाली, मन्द मन्द प्रयत्नपूर्वक वोलने वाली, हलके पीले वर्ण के मुख से प्रभात कालिक चन्द्रमा की छवि को तिरस्कृत करने वाली, मेरे दर्शन के लिए उत्कण्ठित अनुरागिणी प्रिया वासवदत्ता को देखने के

सोत्कण्ठां नियमोपवासविधिना चेतो ममोत्कण्ठते
तां द्रष्टुं प्रथमानुरागजनितावस्थामिवाद्य प्रियाम् ॥ १ ॥

विदूषकः—(उपसृत्य) स्वस्ति भवते। वर्धतां भवान्। (सोत्थि होदे। वड्ढतु भवं)

राजा—(विलोक्य) वसन्तक, कस्मात्प्रहृष्ट इव लक्ष्यसे।

विदूषकः—अर्चति खलु देवो ब्राह्मणम् (अच्चदि खु देवी ब्रह्मणं)

विना – आपाण्डुः - ईषत्पीता छविः = कान्तिर्यस्य तादृशेन मुखेन, विजित-प्रातस्तनेन्दुद्युतिम् – विजिता = तिरस्कृता प्रातस्तनस्य = प्रभातकालिकस्य इन्दोः = चन्द्रमसः, द्युतिः = छविर्यया तादृशीम्, सोत्कण्ठाम् = मद्दर्शने धृतौत्सुक्याम्, प्रथमानुरागजनितावस्थामिव – प्रथमानुरागेण = पूर्वरागेण जनिता अवस्था कार्श्यादिलक्षणा यस्यास्तामिव, ताम् प्रियाम् = अनुरागिणीं प्रियां वासवदत्ताम् अद्य = सम्प्रतीत्यर्थः, द्रष्टुम्, मम = वत्सराजस्य चेतः = मनः, उत्कण्ठते = उत्सुकं भवति। यथा पूर्वरागावसरे मद्विरहजनितकार्श्यादिलक्षणा-मवस्थामापन्ना वासवदत्ता स्वदर्शनार्थं मन्मन उत्कण्ठयन्त्यासीत्तद्वत्सम्प्रत्यपि नियमोपवासानुष्ठानेन तामेवावस्थां गता दर्शनाय मम मानसं समुत्सुकं करोतीति भावः। उपमास्वभावोक्त्योः संसृष्टिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

विदूषक इति। 'भवते' इत्यत्र स्वस्तीतिपदेनयोगे 'नमः स्वस्ति०' इति चतुर्थी।

लिए मेरा मन इस समय वैसे ही समुत्सुक हो रहा है जैसे पूर्वराग के समय मेरे विरह से जनित कृशतादिलक्षणों से युक्त उसे देखने के लिए समुत्सुक हुआ करता था ॥ १ ॥

विदूषक—(समीप जाकर) आप का कल्याण हो। आप अभ्युदय को प्राप्त हों।

राजा—(देख कर) वसन्तक, क्यों अत्यन्त प्रसन्न-से दिखाई पड़ रहे हो ?

विदूषक—देवी ब्राह्मणों का सत्कार करने जा रही हैं।

राजा—यद्येवं ततः किम्।

विदूषकः—(सगर्वम्) भो ईदृशः खलु ब्राह्मणः यश्चतुर्वेदपञ्चवेदषड्वेदब्राह्मणसहस्रपर्याकुले राजकुले प्रथममहमेव देवीसकाशात्स्वस्तिवायनं लभे। (भो, ईरिसो क्खु ब्रह्मणो। जो चउव्वेदपञ्चवेदछट्टवेदब्रह्मणसहस्सपज्जाउले राअउले पुढमं अहं एव्व देवीसआसादो सोत्थिवअणं लहेमि)

राजा—(विहस्य) वेदसंख्ययैवावेदितं ब्राह्मण्यम्। तदागच्छ महाब्राह्मण। धारागृहोद्यानमेव गच्छावः।

विदूषकः—यद्भवानाज्ञापयति (जं भवं आणवेदि)

राजा—गच्छाग्रतः।

चतुर्वेदेत्यादिः—चत्वारो वेदा येषां ते चतुर्वेदाः, एवमन्यत्रापि।

पञ्चवेदेत्यादिः परिहासोक्तिः। तादृशानां ब्राह्मणानां सहस्रैः पर्याकुले = व्याप्ते।

राजेति। वेदसंख्ययैवावेदितं ब्राह्मण्यम् – व्यङ्ग्योक्तिरियम्। त्वं तादृशो ब्राह्मणोऽसि यथा कति वेदा इत्यपि सम्यङ् न जानासि। महाब्राह्मणेति उपाहासोक्तिः, महच्छब्दस्यात्र निन्दापरत्वात्।

'शंखे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्यौतिषके द्विजे। यात्रायां पथि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते'॥ इत्युक्तेः॥

राजा—यदि ऐसा है, तो उससे तुमको क्या ?

विदूषक—(गर्व के साथ) अजी, मैं ऐसा ब्राह्मण हूँ कि हजारों चतुर्वेद, पञ्चवेद, षड्वेद ब्राह्मणों से खचाखच भरे राजकुल में मैं ही सर्वप्रथम देवी से स्वस्तिवायन पाता हूँ।

राजा—(हँस कर) वेदों की संख्या से ही तुम्हारा ब्राह्मणत्व ज्ञात हो रहा है। तो आओ महाब्राह्मण, धारागृह के उद्यान की ओर चलें।

विदूषक—आप की जो आज्ञा।

राजा—आगे चलो।

विदूषकः—भो एहि गच्छावः। (परिक्रम्यालोक्य च) **भो वयस्य, पश्य पश्य अविरतद्विविधकुसुमसुकुमारशिलातलोत्सङ्गस्य परिमलनिलीनमधुकरभरभग्नबकुलमालतीलताजालकस्य कमलगन्धग्रहणोद्दाममारुतपर्यवबुद्धबन्धूकबन्धनस्याविरलतमालतरुपिहितातपप्रसारस्यास्य धारागृहोद्यानस्य सश्रीकताम्।** (भो एहि गच्छह्म। वअस्स, पेक्ख पेक्ख—अविरदपडन्तविविहकुसुमसुउमालसिलाअलुच्छङ्गस्स परिमलणिलीणमहुअरभरभग्गवउलमालदीलदाजालअस्स कमलगन्धग्गहणुद्दाममारुदपज्जवबुद्धवन्धूअवन्धणस्स अविरलतमालतरुपिहिदातपप्पसारस्स अस्स धाराधरुज्जाणस्स सस्सरीअअं)

राजा—वयस्स, साध्वभिहितम्। अत्र हि—

विदूषक इति। अविरतेत्यादिः—अविरतम् = निरन्तरम्, पतद्भिः विविधैः कुसुमैः सुकुमारः = मृदुः, शिलातलस्य = प्रस्तरखण्डतलस्य उत्सङ्गः = क्रोडभागो यत्र तत्तस्य। परिमलेत्यादिः—परिमलेन = सुगन्धेन, तल्लोभेनेत्यर्थः, निलीनाः = संसक्ताः, ये मधुकराः = भ्रमराः, तेषां भरेण = भारेण, भग्नानि = त्रुटितानि, वकुलानां मालतीलतानां च जालकानि = पुष्पगुच्छा यस्मिँस्तस्य। कमलगन्धेत्यादिः—कमलगन्धस्य ग्रहणे उद्दादामाः निरंकुशाः सरभसं निपतिता इत्यर्थः, ये मारुताः = वायवः, तैः पर्यवबुद्धानि = विकसितानि वन्धूकबन्धनानि = वन्धूकपुष्पगुच्छा यत्र तस्य। अविरलतमालेत्यादिः—अविरलैः = घनैः तमालतरुभिः पिहितः = आच्छादितः, निवारित इत्यर्थः, आतपप्रसारो यत्र तथाभूतस्य। सश्रीकताम्—श्रिया = शोभया सह वर्तते इति सश्रीकं तस्य भावस्तत्ता, ताम्।

राजा विदूषकोक्तिं समर्थयितुं धारागृहोद्यानस्य रमणीयतामभिव्यनक्ति—

विदूषक—अजी, आओ चलें (चलकर और देख कर) वयस्य, देखो, इस धारागृह के उद्यान की शोभा देखो, यहाँ निरन्तर झड़ते हुए विविध कुसुमों से शिलातल (आच्छन्न हो) मृदुल हैं, सुगन्ध के लोभ से लीन भ्रमरों के भार से बकुल और मालती के पुष्पगुच्छ टूटे पड़ रहे हैं, कमल की सुगन्ध ग्रहण करने के लिए वेग से चलने वाले वायु द्वारा बन्धूक के पुष्पगुच्छ विकसित किये जा रहे हैं और घने तमाल तरुओं से धूप के प्रसार का निवारण हो रहा है।

राजा—वयस्य, तुमने ठीक कहा। यहाँ पर—

वृन्तैः क्षुद्रप्रवालस्थगितमिव तलं भाति शेफालिकानां
गन्धः सप्तच्छदानां सपदि गजमदामोदमोहं करोति ।
एते चोन्निद्रपद्मच्युतबहलरजः पुञ्जपिङ्गाङ्गरागा
गायन्त्यव्यक्तवाचः किमपि मधुलिहो वारुणीपानमत्ताः ॥२॥

विदूषकः—भो वयस्य, एतमपि तावत्पश्य पश्य—य एषोऽविरल-

वृन्तैरित्यादिना । शेफालिकानाम् = पुष्पविशेषाणाम्, वृन्तैः = पुष्पगुच्छैः, श्लथीभूय स्वयं पतितैरिति भावः । तलम् = भूतलम्, क्षुद्रप्रवालस्थगितमिव—क्षुद्रैः = लघुभिः, प्रवालैः = विद्रुमखण्डैः स्थगितम् = पिहितमिव, भाति प्रतीयते । अत्रोद्याने स्वयंपतितैः रक्तद्युतिभिः शेफालिकावृन्तैः भूतलं लघुविद्रुमखण्डैरावृतमिव प्रतीयत इति भावः । सप्तच्छदानाम् = सप्तपर्णानाम् गन्धः, सपदि = तत्क्षणम्, गजमदामोदमोहम्—गजमदस्य य आमोदः = सुगन्धः, तस्य मोहम् = भ्रान्तिम्, करोति = जनयति । उन्निद्रपद्मेत्यादिः—उन्निद्रेभ्यः = विकसितेभ्यः, पद्मेभ्यः = कमलेभ्यः, च्युतैः = पतितैः बहलरजसाम् = समधिकपरागाणाम्, पुञ्जैः = राशिभिः, पिङ्गः = पीताभः, अङ्गानाम् = देहावयवानां, रागः = वर्णो येषां ते तथोक्ताः, वारुणीपानमत्ताः – पुष्परसमधुपानेन मत्ताः, अव्यक्तवाचः – अव्यक्ता = अस्फुटा, वाक् = शब्दो येषां ते तथोक्ताः, एते = धारागृहोद्यानगताः, मधुलिहः = भ्रमराः, किमपि = अनिर्वचनीयम्, अत्यन्तं मधुरमित्यर्थः, गायन्ति = गानं कुर्वन्ति । अत्रोत्प्रेक्षाभ्रान्तिमत्स्वभावोक्तीनां परस्परनैरपेक्ष्यस्थितेः संसृष्टिः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ २ ॥

विदूषक इति । अविरलपतत्कुसुमनिकरः—अविरलम् = निरन्तरम्

शेफालिका के (शिथिल होकर स्वयं झड़े हुए) पुष्पों के डंठलों से उसके नीचे की भूमि मानो छोटे-छोटे मूंगों से आच्छादित प्रतीत हो रही है, छतवन (सप्तपर्ण) की गन्ध तत्क्षण गज के मदजल की सुगन्ध का भ्रम पैदा करती है । विकसित कमलों से झड़े हुए परागपुञ्ज से पीले अङ्ग वाले (मकरन्द रूप) मदिरा पीकर मत्त हुए, अस्फुट भाषी ये भौंरे अत्यन्त मधुर गान कर रहे हैं ॥ २ ॥

विदूषक—अरे, वयस्य ! इसे भी जरा देखो—इस सप्तपर्ण वृक्ष से

पतत्कुसुमनिकरोऽद्यापि पत्रान्तरगलद्वर्षावसानसलिलबिन्दुरिव लक्ष्यते सप्तपर्णपादपः। (भो वअस्स, एदं वि दाव पेक्ख पेक्ख—जो एसो अविरल-पडन्तकुसुमणिअरो अज्ज वि पत्तन्तरगलन्तवरिसावसाणसलिलविन्दू विअ लक्खोअदि सत्तवण्णपाअवी)

राजा—वयस्य, सम्यगुत्प्रेक्षितम्। बह्वेवसदृशं जलदसमयस्य। तथाहि।

बिभ्राणा मृदुतां शिरीषकुसुमश्रीहारिभिः शाद्वलैः
सद्यः कल्पितकुट्टिमा मरकतक्षोदैरिव क्षालितैः।

पतन् = निपतन्, कुसुमानाम् = पुष्पाणाम्, निकरः = समुदयो यस्मात् तादृशः, पत्रान्तरगलद्वर्षावसानसलिलविन्दुः – पत्रान्तरेभ्यः = पत्रान्तरालेभ्यः, गलन्तः = च्यवमानाः, वर्षावसाने = वर्षाविरतौ, सलिलविन्दवः = जलविन्दवो यस्य स इव। इमं सप्तपर्णाख्यं वृक्षं पश्य, यस्मात् सततं पतन्ति पुष्पाणि सम्प्रत्यपि वर्षाविरतौ पत्रान्तरालेभ्यश्च्यवमाना जलविन्दव इव प्रतीयन्त इति विदूषकोक्तेरभिप्रायः।

राजा विदूषकवचनमनुमोदते – वयस्य सम्यगुत्प्रेक्षितम् = वयस्य, यत्त्वयोत्प्रेक्षितं तत्समीचीनमेवेत्यर्थः। अनुमोदने हेतुमाह – बिभ्राणेति। शिरीषकुसुमश्रीहारिभिः – शिरीषकुसुमानां श्रियम् = शोभां हरन्तीति तैः, तद्वन्मृदुभिरित्यर्थः, शाद्वलैः – शादाः = शष्पाणि सन्त्यत्रेति शाद्वलाः = हरित्तृणसङ्कुलप्रदेशास्तैः (शादशब्दात् 'नडशादाड्ड्वलच्' पा० ४।२।८८ इति ड्वलच्) मृदुताम् = कोमलताम्, बिभ्राणा = धारयन्ती, क्षालितैः = धौतैः, मरकतक्षोदैः = मरकतमणिखण्डैः, सद्यः = तत्क्षणम्, कल्पितकुट्टिमा – कल्पितम् = निर्मितम्, कुट्टिमम् = भूमितलं यस्याः सेव (स्थिता) एषा क्षितिः, सम्प्रति =

अनवरत झड़ते पुष्प इस समय वर्षा के अन्त में भी पत्तों के अन्तराल से टपकते जल-बिन्दु-से प्रतीत हो रहे हैं।

राजा—वयस्य, तुमने बड़ी अच्छी उत्प्रेक्षा की। वर्षा ऋतु से बहुत ही समता है। क्योंकि—

यह भूमि, शिरीषपुष्पों की शोभा को हरने वाले हरे-भरे घासों के

एषा संप्रति बन्धनाद्विगलितैर्बन्धूकपुष्पोत्करै-
रद्यापि क्षितिरिन्द्रगोपकशतैश्छन्नेव संलक्ष्यते ॥ ३ ॥

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—आज्ञप्तास्मि देव्या वासवदत्तया—'हञ्जे इन्दीवरिके, अद्य मया अगस्त्यमहर्षयेऽर्घ्यं दातव्यम् । तद्गच्छ त्वम् । शेफालिकाकुसुममालां लघु गृहीत्वागच्छ । एषाप्यारण्यका धारागृहोद्यानदीर्घिकाया यावदेव

इदानीम्' बन्धनात् = वृन्तात्, विगलितैः—च्युतैः, बन्धूकपुष्पोत्करैः बन्धूकपुष्पपुञ्जैः, अद्यापि = वर्षायाश्चिरविगतत्वेऽपि, इन्द्रगोपकशतैः = इन्द्रगोपनामकवर्षोद्भवकीटशतैः, छन्नेव = आवृतेव, संलक्ष्यते = प्रतीयते । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

चटीति । हञ्जे इति चेटीं प्रति सम्बोधनम् । तदुक्तममरकोशे – 'हण्डे हञ्जे हला ह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' । इति । मया = वासवदत्ताया । अगस्त्यमहर्षयेऽर्घ्यं दातव्यम् – अगस्त्यमहर्षिप्रीत्यर्थमुपहारो दातव्यः । 'यस्तु भाद्रपदस्यान्त उदिते कलशोद्भवे । अर्घ्यं दद्यादगस्त्याय सर्वकामाँल्लभेत सः ॥' इत्युक्तेः । दीर्घिकायाः = वाप्याः । अस्ताभिलाषिणा = अस्तं गच्छतेत्यर्थः । मुकुलाय्यन्ते = मुकुलवत्क्रियन्ते । लघु = क्षिप्रम् । अवचित्य = संगृह्य ।

मैदानों से कोमलता धारण करती हुई ऐसी प्रतीत हो रही है मानों अभी-अभी धुले हुए मरकत मणियों के खण्डों से इसकी फर्श बनायी गयी हो और सम्प्रति डण्ठल से झड़े हुए बन्धूक-पुष्प-पुञ्जों से ऐसी प्रतीत हो रही है मानों आज (वर्षा के चिरविगत होने पर) भी सैकड़ों वीरबहूटियों से आवृत हो ॥ ३ ॥

(तदनन्तर चेटी का प्रवेश)

चेटी—देवी वासवदत्ता ने मुझे आज्ञा दी है—"अरी इन्दीवरिके ! आज मुझे अगस्त्य महर्षि को अर्घ्य देना है । अतः तुम जाओ । शेफालिका की पुष्पमाला जल्दी लेकर आओ । यह आरण्यका भी तब तक शीघ्र धारागृह के उद्यान की वापी से खिले हुए कमलों को चुन कर ले आये जब तक अस्ताचल को जाने वाले सूर्य उन्हें मुकुलित नहीं करते हैं ।" यह बेचारी उस

विकसितानि कमलानि नास्ताभिलाषिणा सूर्येण मुकुलाय्यन्ते तावदेव लघ्ववचित्यागच्छतु' इति। एषा तपस्विनी तां दीर्घिकां न जानाति। तद्गृहीत्वा तां गमिष्यामि (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) इत इत आरण्यके एहि। (आणत्तह्मि देवीए वासवदत्ताए—'हञ्जे इन्दीवरिए, अज्ज मए अगत्थिमहेसिणो अग्घां दादव्वम्। ता गच्छ तुमम्। सेहालिआकुसुममालं लहु गेण्हिअ आअच्छ एसा वि आरण्णआ धाराधरुज्जाणदीहिआए जाव एव्व विअसिआइ कमलाइ ण अत्थाहिलासिणा सुज्जेण मउलाविज्जन्ति दाव एव्व लहुअं अवच्चिणुअ आअच्छदु'त्ति। एसा तवस्सिणी तं दीहिअं ण जाणादि। ता गेण्हिअ तं गमिस्सं। इदो इदो आरण्णए एहि)

[ततः प्रविशत्यारण्यका]

आरण्यका—(सवाष्पोद्वेगमात्मगतम्) तथा नाम तादृशे वंश उत्पन्नयान्यजनमाज्ञाप्य स्थितया सांप्रतं परस्य मयाज्ञप्तिः कर्तव्येति नास्ति खलु दुष्करं दैवस्य। अथवा ममैवैष दोषः। येन जानत्यापि न व्यापादित आत्मा। तत्किं सांप्रतं करिष्यामि। अथवा दुष्करमिदानीं मया

तपस्विनी = दीना,वराकेत्यर्थः। ('मुनिशोच्यौ तपस्विनौ' इति विश्वः)।

आरण्यकेति। तादृशे = सर्वथा सुप्रसिद्धे। आज्ञप्तिः = आज्ञा। व्यापादितः = प्राणैर्वियोजितः। वरम् = किञ्चित्प्रियम्। महार्घम् समृद्ध्याऽऽभि-

वापी को जानती नहीं है, अतः उसे लेकर जाऊँगी। (नेपथ्य की ओर देख कर) आरण्यके, इधर आओ, इधर।

(तदनन्तर आरण्यका का प्रवेश)

आरण्यका—(आँसू और उद्वेग के साथ मन ही मन) उस प्रकार के (उच्च) वंश में उत्पन्न हुई और दूसरों को आज्ञा देने वाली मुझे इस समय दूसरों की आज्ञा का पालन करना पड़ रहा है। दैव के लिए ऐसा करना कुछ कठिन नहीं है। अथवा मेरा ही यह दोष है कि यह जान कर भी मैंने आत्मघात नहीं कर लिया। तो अब क्या करूँगी। अथवा इस समय मैं यह दुष्कर कार्य सोच रही हूँ। यह भी ठीक ही है। किन्तु मैंने अपने उच्च वंश को प्रकट कर अपनी लघुता तो नहीं होने दी। फिर उपाय ही क्या है? आज्ञानुसार कार्य करूंगी।

चिन्तितम् । वरमेवैतदपि । न पुनरात्मनो महार्घं वंशं प्रकाशयन्त्या मया लघूकृत आत्मा । तत्का गतिः । यथाभणितमनुष्ठास्यामि । (तह णाम तारिसे वंसे उप्पण्णाए अण्णजणं आणविअ टिठदाए संपदं परस्स मए आणत्ती कादव्वेत्ति णत्थि खु दुक्खरं देव्वस । अहवा मह एव्व एसो दोसो । जण जाणन्तीए वि ण वावादिओ अप्पा । ता किं संपदं करिस्सं । अहवा दुक्खरं दाणिं मए चिन्तिदं । वरं एव्व एदं वि । ण उण अप्पणो महग्घं वंसं पआसअन्तीए मए लहुईकिदो अप्पा । ता का गई । जहभणिदं अणुचिट्ठिस्सं)

चेटी—इत एह्यारण्यके । (इदो एहि आरण्णए)

आरण्यका—इयमागच्छामि । (श्रमं नाटयन्ती) **हञ्जे, दूरे किमद्यापि दीर्घिका ।** (इअं आअच्छामि । हञ्जे, दूरे किं अज्ज वि दीहिआ)

चेटी—एषा शेफालिकागुल्मान्तरिता । तदेहि । अवतरावः । (एषा सेहालिआगुम्मन्तरिआ । ता एहि । ओदरह्म) (अवतरणं नाटयतः)

राजा—वयस्य, किमन्यदिव चिन्तयसि । ननु ब्रवीमि । बह्वेव सदृशं जलदसमयस्य ।

[इति 'विभ्राणा मृदुतान्' इत्यादि पुनः पठति]

विदूषकः—(सक्रोधम्) **भोः, त्वं तावदेतदन्यच्च पश्यन्नुत्कण्ठानिर्भरं**

जात्येन च सुप्रसिद्धम् । प्रकाशयन्त्या - ज्ञापयन्त्या । लघूकृतः = लघुतां गमितः ।

चेटीति । शेफालिकागुल्मान्तरिता – शेफालिकाया गुल्मः = स्तम्बः, तेनान्तरिता = व्यवहिता । शेफालिकागुल्मासन्नैव वर्तते वापीत्यर्थः ।

चेटी—आरण्यके, इधर आओ ।

आरण्यका—यह आयी । (थकावट का अभिनय करती हुई) सखी, क्या वापी अभी दूर है ?

चेटी—यही शेफालिका की झाड़ी के पीछे ही है, अतः आओ, उतरें ।

राजा—वयस्य, क्या दूसरी वात सोच रहे हो । अरे, कह रहा हूँ — वर्षाकाल के अति सदृश है ।

('विभ्राणा मृदुताम्' इत्यादि पुनः पढ़ता है)

विदूषक—(क्रोध के साथ) अजी, तुम तो इसे और कुछ अन्य वस्तु

विनोदयस्यात्मानम्। मम पुनर्ब्राह्मणस्य स्वस्तिवायनवेलातिक्रामति। तत्तावदहं त्वरितं दीर्घिकायां स्नात्वा देव्याः सकाशं गमिष्यामि। (भो तुमं दाव एदं अण्णं अ पेक्खन्तो उक्कण्ठाणिब्भरं विणोदेसि अप्पाणं। मम उण बह्मणस्स वसोत्थिवाअणवेलां अदिक्कमदि। ता दाव अहं तुवरिअं दीहिआए ण्हाइअ देवीए सआसं गमिस्सं)

राजा—ननु मूर्ख, पारं गता एव वयं दीर्घिकायाः 'एवमनेकेन्द्रिय-सुखातिशयमनुभवन्नपि नोपलक्षयसि 'पश्य'।

श्रोत्रं हंसस्वनोऽयं सुखयति दयितानूपुरह्लादकारी
दृष्टिप्रीतिं विधत्ते तटतरुविवरालक्षिता सौधपाली।
गन्धेनाम्भोरुहाणां परिमलपटुना जायते घ्राणसौख्यं

राजेति। पारं गताः = अपरतीरं प्राप्ताः।

राजा वाप्या प्रदीयमानमनेकेन्द्रियसुखातिशयं वर्णयति – **श्रोत्रमित्या-दिना**। दयितानूपुरह्लादकारी – दयितायाः = प्रियतमायाः, नूपुरस्येव ह्लादम् = शब्दं करोतीति तथा, प्रेयसीमञ्जीरशिञ्जितसदृश इत्यर्थः। अयम् = श्रूयमाणः, हंसस्वनः = हंसरवः, श्रोत्रम् = कर्णेन्द्रियम्, सुखयति = आनन्दयति। तटतरु-विवरालक्षिता - तटतरूणाम् = पुलिनप्ररूढवृक्षाणाम्, विवरैः = अन्तरालैः, आलक्षिता = दृश्यमानेत्यर्थः। सौधपाली = प्रासादपंक्तिः, दृष्टिप्रीतिम्—दृष्टेः = नेत्रेन्द्रियस्य, प्रीतिम् = मुदम्, विधत्ते = करोति। परिमलपटुना – परिमलेन = सुगन्धेन, पटुः = हृद्य इत्यर्थः तेन, अम्भोरुहाणां गन्धेन = कमलसौरभेण, घ्राण-

---

देखते हुए उत्कण्ठित हृदय को बहला रहे हो और मुझ ब्राह्मण की तो स्वस्तिवायन की वेला बीती जा रही है। इसलिए मैं शीघ्र वापी में स्नान कर देवी के पास जाऊँगा।

राजा—अरे मूर्ख, हम लोग तो वापी को पार कर चुके। इस तरह अनेक इन्द्रियों द्वारा सुखातिशय का अनुभव करके भी ध्यान नहीं देते हो! देखो—

प्रेयसी के नूपुरध्वनि-सदृश यह हंसों का शब्द कर्णेन्द्रिय को आनन्दित कर रहा है, तट के वृक्षों के अन्तराल से दीख पड़ने वाली प्रासाद पंक्ति

गात्राणां ह्लादमेते विदधति मरुतो वारिसंपर्कशीता ॥ ४ ॥

तदेहि। दीर्घिकातटमुपसर्पावः । (परिक्रम्यावलोक्य च) **वयस्य, पश्य पश्य।**

उद्यानदेवतायाः स्फुटपङ्कजकान्तिहारिणी स्वच्छा।
दृष्टिरिव दीर्घिकेयं रमयति मां दर्शनेनैव ॥ ५ ॥

विदूषकः—(सकौतुकम्) **भो वयस्य, पश्य पश्य। कैषा कुसुमपरि-**

सौख्यम् = नासातृप्तिः, जायते। वारिसंपर्कशीताः = जलसम्पर्केण शैत्यं गताः, एते मरुतः = वायवः, गात्राणाम् = अङ्गानाम् ह्लादम् = आनन्दम्, विदधति = कुर्वन्ति। स्रग्धरा वृत्ताम् ॥ ४ ॥

उद्यानेति। स्फुटपङ्कजकान्तिहारिणी—स्फुटानाम् = विकसितानाम्, पङ्कजानाम् कमलानाम्, कान्त्या = शोभया, हारिणी = मनोहरा, दृष्टि पक्षे स्फुटपङ्कजानां कान्तिम् = शोभां हर्तुं शीलं यस्यास्तादृशी। स्वच्छा, उद्यान देवतायाः दृष्टिरिव, इयम् = पुरोवर्तिनी, दीर्घिका = वापी, माम् = वत्सराजम्, दर्शनेनैव = अवलोकनमात्रेणैव, रमयति = प्रसादयति। उपमाऽलङ्कारः। आर्या जातिः ॥ ५ ॥

विदूषक इति। कुसुमपरिमलसुगन्धवेणिमधुकरावलिः—कुसुमानाम् = वेण्यां धृतानां पुष्पाणां परिमलेन = सौरभेण, सुगन्धा वेणिः = संयत-केशपाश एव

नेत्रेन्द्रिय को प्रसन्न कर रही है, सुगन्ध से मनोहर कमल सौरभ से नासिका की तृप्ति हो रही है और जलसम्पर्क से शीतल वायु समस्त अङ्गों को आनन्दित कर रहा है ॥ ४ ॥

तो आओ, वापी तट को चलें। (चल कर और देख कर) वयस्य, देखो देखो !

विकसित कमलों की शोभा को हरने वाली, उद्यान देवता की दृष्टि-सी, यह विकसित कमलों की शोभा से मनोहर वापी मुझे दर्शन मात्र से प्रसन्न कर रही है ॥ ५ ॥

विदूषक—(उत्सुकता से) अजी, वयस्य, देखो देखो ! यह साक्षात् उद्यान देवता-सी दीख पड़ने वाली कौन स्त्री दिखायी दे रही है जिसकी

मलसुगन्धवेणिमधुकरावलिर्विद्रुमलतारुणहस्तपल्लवा उज्ज्वलत्तनुकोमल-बाहुलता सत्यं प्रत्यक्षचरीवोद्यानदेवता स्त्री दृश्यते। (भो वअस्स पेक्ख पेक्ख। का एसा कुसुमपरिमलसुअन्धवेणीमहुअरावली विद्दुमलआरुणहत्थपल्लवा उज्जुलुन्ततणुकोमलवाहुलदा सच्चं पच्चक्खचरीविअउज्जाणदेवदा इत्थिआ दीसइ)

राजा—(सकौतुकं विलोक्य) **वयस्य निरतिशयस्वरूपशोभाजनित बहुविकल्पेयम्। यत्सत्यमहमपि नावगच्छामि। पश्य—**

पातालाद्भुवनावलोकनपरा किं नागकन्योत्थिता।

मधुकरावलिः = भ्रमर-पंक्तिर्यस्याःसा। उद्यानदेवता पक्षे तु कुसुमपरिमल-सुगन्धवेणिरिव मधुकरावलिर्यस्याःसा। विद्रुमलतारुणहस्तपल्लवा—विद्रुम-लता = प्रवाललता, सेव अरुणौ हस्तौ करावेव, पल्लवौ किसलयौ यस्याःसा तथोक्ता। उद्यानदेवतापक्षे तु विद्रुमलतेवारुणौ हस्ताविव पल्लवौ यस्याःसा। उज्ज्वलत्तनुकोमलवाहुलता—उज्ज्वलन्ती = प्रकाशमाना गौरवर्णेत्यर्थः तन्वी-कृशा, कोमला च वाहुलता यस्याःसा। सत्यम् = वस्तुतः। प्रत्यक्षचरी = स्पष्टं दृश्यमाना।

राजेति। सकौतुकम् = औत्सुक्येन सह यथा स्यात्तथा। निरतिशय—स्वरूपशोभाजनितवहुविकल्पा—निरतिशया = समधिका या स्वरूप-शोभा तया जनिताः = कृताः, बहवः विविधाः विकल्पाः = सन्देहाः, यया सा तथोक्ता।

पातालेति। किं भुवनावलोकनपरा—भुवनस्य = भूलोकस्यावलोकनपरा = दर्शनपरा, भूलोकं द्रष्टुकामेत्यर्थः। नागकन्या, पातालात् उत्थिता—पाता-

---

कुसुम से सुगन्ध युक्त वेणी ही भ्रमरावलि है, हाथ विद्रुमलता के समान हैं और जिसकी गोरी भुजाएं लता के समान कृश और कोमल हैं।

राजा—(उत्सुकतापूर्वक देख कर) वयस्य, अत्यन्त स्वरूप-सौन्दर्य से यह (स्त्री) अपने विषय में नाना प्रकार के तर्कों को जन्म दे रही है अतः ठीक निश्चय मैं भी नहीं कर पा रहा हूं। देखो—

क्या भूलोक का दर्शन करने की कामना से यह नागकन्या पाताल से

मिथ्या तत्खलु दृष्टमेव हि मया तस्मिन्कुतोऽस्तीदृशी ।
मूर्ता स्यादिह कौमुदी न घटते तस्या दिवा दर्शनं
केयं हस्ततलस्थितेन कमलेनालोक्यते श्रीरिव ॥ ६ ॥

विदूषकः—(निरूप्य) **एषा खलु देव्याः परिचारिकेन्दीवरिका । तद्गुल्मान्तरितौ भूत्वा पश्यावः ।** (एसा क्खु देवीए परिआरिआ इन्दीवरिआ । ता गुम्मन्तरिआ भविअ पेक्खह्म)

(उभौ तथा कुरुतः)

लादुद्गम्यागता । नैतद्युक्तमित्याह — मिथ्येति । तन्मिथ्या खलु — नागकन्येयमिति यदुक्तं तदसत्यम् । हि = यतः, मया = वत्सराजेन, दृष्टमेव पातालमिति शेषः । तस्मिन् - नागलोके, ईदृशी = रूपसम्पच्छालिनी—कन्यका कुतः अस्ति = नास्तीत्यर्थः । मूर्ता = मूर्त्तिमती, कौमुदी = चन्द्रिका, इह = अत्र, स्यात् (किन्तु) तस्याः = कौमुद्याः, दिवा = दिने, दर्शनं न घटते = न संभवति, दिवा चन्द्राभावात् । (तर्हि) इयं का, या हस्ततलस्थितेन = करनिहितेन, कमलेन = तत्क्षणमेवावचितेन कमलेन, श्रीरिव = लक्ष्मीरिव, आलोक्यते = दृश्यते । निश्चयगर्भः सन्देहालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

विदूषक इति । निरूप्य = निपुणं निरीक्ष्य । देव्याः = वासवदत्तायाः । परिचारिका = दासी । तत्=तस्मात् । गुल्मान्तरितौ, गुल्मेन = शेफालिकास्तम्बेन अन्तरितौ = आच्छन्नौ ।

निकल आयी है किन्तु यह कल्पना मिथ्या है क्योंकि पाताल लोक मेरा देखा हुआ है, वहाँ ऐसी कन्या कहाँ हो सकती है ? यह मूर्तिमती चन्द्रिका हो सकती है किन्तु दिन में चन्द्रिका के दर्शन की सम्भावना नहीं । तब यह कौन है जो करनिहित कमल से लक्ष्मी के समान दिखायी पड़ रही है ॥ ६ ॥

विदूषक—(भलीभाँति देख कर) यही देवी की परिचारिका इन्दीवरिका है, अतः झाड़ी में छिप कर देखें ।

(दोनों वैसा करते हैं)

चेटी--(कमलिनीपत्रग्रहणं नाटयन्ती) **आरण्यके, अवचिनु त्वं पद्मानि। अहमप्येतस्मिन्नलिनीपत्रे शेफालिकाकुसुमा'न्यवचित्य' देवीसकाशं गमिष्यामि।** (आरण्णए, अवइणु तुमं पदुमाइ। अहं वि एदस्सिं णलिनोपत्तम्मि सेहालिआकुसुमाइ अवइणुय देवीसआसं गमिस्सं)

राजा—वयस्य, संलाप इव वर्तते। तदवहिताः शृणुमः। कदाचिदित एव व्यक्तीभविष्यति।

(चेटी गमनं नाटयति)

आरण्यका—हला इन्दीवरिके, न शक्नोमि त्वया विनात्रासितुम्। (हला इन्दीवरिए, ण सक्कुणोमि तुये विणा एत्थ आसिदुं)

चेटी—(विहस्य) **यादृशमद्य मया देव्या मन्त्रितं श्रुतम्, तादृशेन**

चेटीति। अवचिनु = संगृहाण। नलिनीपत्रे = कमलिनीपत्रे।

राजेति। इतः = संलापादेव। व्यक्तीभविष्यति = केयमिति प्रकटीभवेदित्यर्थः।

आरण्यकेति। त्वया विना — विनेति पदेन योगे 'त्वया, इत्यत्र तृतीया। आसितुम् अवस्थातुम्।

चेटीति। मन्त्रितम् = विचारः। देवी तव विवाहं कर्तुमिच्छति। सम्पन्ने विवाहे त्वया चिरं मत्तो वियुक्तया पतिगृहे स्थातव्यमितीन्दीवरिकोक्तेरभिप्रायः।

चेटी—(कमलिनी पत्र लेने का अभिनय करती हुई) आरण्यके, तुम कमल के फूल चुन लो मैं भी इस कमलिनी पत्र में शेफालिका के पुष्प चुनकर देवी के पास जाऊँगी।

राजा—वयस्य, (दोनों में) बात हो रही है। अतः सावधान होकर सुनें, कदाचित् इसी से पता चल जायगा।

(चेटी जाने का अभिनय करती है)

आरण्यका—सखी इन्दीवरिके, मैं यहाँ तुम्हारे बिना रह नहीं सकती हूँ।

चेटी—(हंसकर) जैसा मैंने आज देवी का विचार सुना है, उसके

चिरमेव मया विना त्वयासितव्यम् । (जारिसं अज्ज मए देवीए मन्तिदं सुदं, तारिसेण चिरं एव्व मए विणा तुए आसिदव्वं)

आरण्यका—(सविषादम्) **किं देव्या मन्त्रितम् ?** (किं देवीए मन्तिदं ?)

चेटी—**एतत् 'तदैषाहं महाराजेन भणिता, यथा 'यदैषा विन्ध्यकेतुदुहिता वरयोग्या भविष्यति तदाहं स्मारयितव्यः ।' इति । तत्साम्प्रतं महाराजं स्मारयामि येनास्या वरचिन्तापर्याकुलो भविष्यति ।'** (एदं 'तदा एसा अहं महाराएण भणिदा, जह 'जदा एसा विञ्झकेदुदुहिदा वरजोग्गा भविस्सदि तदा अहं सुमराइदव्वो'त्ति । ता सम्पदं महाराअं सुमरावेमि । जेण से वरचिन्तापज्जाउलो भविस्सदि ।')

राजा—(सहर्षम्) **इयं सा विन्ध्यकेतोर्दुहिता ।** (सानुतापम्) **चिरं मुषिताः स्मो वयम् । वयस्य, निर्दोषदर्शना कन्यका खल्वियम् । विस्रब्धमिदानीं पश्यामः ।**

वरचिन्तापर्याकुलः – वरान्वेषणपरः ।

राजेति । मुषिताः = वञ्चिताः । निर्दोषदर्शना – निर्गतो दोषो यस्मात्तन्निर्दोषम् । निर्दोषं दर्शनं यस्याःसा निर्दोषदर्शना । कन्याया दर्शनं न धर्मशास्त्रविरुद्धम् । कन्या विवाहानन्तरमेव परकीया स्त्री जायते यस्या दर्शनं धर्म विरुद्धं किन्तु कन्या न भवति कस्यचित् स्त्रीति तद्दर्शने न धर्मविरोधो नापि नीतिविरोध इति भावः । विस्रब्धम् = निःसङ्कोचं यथा तथा ।

अनुसार निश्चित तुम्हें चिरकाल के लिए मेरे बिना रहना होगा ।

आरण्यका—(विषाद के साथ) देवी का क्या विचार है ?

चेटी—यही कि 'महाराज ने मुझसे कहा था कि जब यह विन्ध्यकेतु की कन्या वर योग्य हो जायगी तब स्मरण कराना । इसलिए अब महाराज को स्मरण दिला दूँ जिससे इसके लिए वर ढूँढने की चिन्ता में लग जाँय ।

राजा—(हर्ष के साथ) यही वह विन्ध्यकेतु की कन्या है । (पश्चात्ताप पूर्वक) हम चिरकाल तक के लिए ठगे गये । वयस्य, यह कन्या (अविवाहिता) है

आरण्यका—(सरोषं कर्णौ पिधाय) **तद्गच्छ त्वम्। न त्वयासम्बद्धप्रलापिन्या प्रयोजनम्।** (ता गच्छ तुमं। ण तुए असम्बद्धप्पलाविणीए पओअणं) (चेटच्युपसृत्य पुष्पावचयं नाटयति)

राजा—अहो सुतरां प्रकटीकृतमाभिजात्यं धीरतया। वयस्य, धन्यः खल्वसौ य एतदङ्गस्पर्शसुखभाजनं भविष्यति।

(आरण्यका कमलावचयं नाटयति)

विदूषकः—भो वयस्य, पश्य पश्य। आश्चर्यमाश्चर्यम्। एषा सलीलचलत्करपल्लवप्रभाविस्तृतेनापहसितशोभं करोति कमलवनमवचिन्वती।

आरण्यकेति। असम्बद्धप्रलापिन्या – असम्बद्धम् = निरर्थकं, प्रलपतीति तच्छीला तया।

राजेति। सुतराम् = अत्यन्तम्। आभिजात्यम् - कुलीनता। एतदङ्गस्पर्शसुखभाजनम् – एतस्याः = आरण्यकायाः, अङ्गस्य = शरीरस्य, स्पर्शे = आलिङ्गने यत्सुखं तस्य भाजनम् = पात्रम्। स सौभाग्यशाली योऽस्या आलिङ्गनजन्यसुखमनु भविष्यतीति भावः।

विदूषक इति। एषा - आरण्यका। अवचिन्वती = कमलपुष्पाण्यवचिन्वती। सलीलचलत्करपल्लवप्रभाविस्तृतेन – सलीलम् = सविलासं, चलतः = संचरतः, करपल्लवस्य प्रभायाः = शोभायाः, विस्तृतेन = विस्तारेण (भावे क्तः)। कमलवनम् = कमलवृन्दम्। अपहसितशोभम्—अपहसिता = तिरस्कृता शोभा

अतएव इसको देखने में कोई दोष नहीं। अब निर्भय एवं निःसङ्कोच होकर देखें।

आरण्यका—(रोष से कान मूँद कर) तो तू जा, तुझ बेतुकी बात करने वाली से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं।

(चेटी हट कर पुष्प चुनने का अभिनय करती है)

राजा—अहो, इसकी धीरता स्पष्ट कुलीनता को अभिव्यक्त कर रही है। वयस्य वह धन्य है जो इसके अङ्ग-स्पर्श-जनित सुख का पात्र होगा।

(आरण्यका कमल चुनने का अभिनय करती है)

विदूषक—अरे वयस्य ! यह कमल पुष्पों को चुनती हुई सविलास चलते

(भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख । अच्चरिअं अच्चरिअं । एसा सलीलचलन्तकरपल्लवप्पहावित्थदेण ओहसिअसोहं करेदि कमलवणं अवचिणन्ती ।)

राजा—वयस्य, सत्यमेवैतत् । पश्य—

अच्छिन्नामृतबिन्दुवृष्टिसदृशीं प्रीतिं ददत्या दृशा
यातायां विगलत्पयोधरपटाद्द्रष्टव्यतां कामपि ।
अस्याश्चन्द्रमसस्तनोरिव करस्पर्शास्पदत्वं गता
नैते यन्मुकुलीभवन्ति सहसा पद्मास्तदेवाद्भुतम् ॥७॥

यस्य तादृशम् । करोति । इयं कमलावचयकाले सविलासं चलतः करपल्लवशोभया कमलशोभां तिरस्करोतीवेत्यर्थः ।

अच्छिन्नेति । दृशा – दृष्ट्या, अवलोकनेनेत्यर्थः । अच्छिन्नामृतबिन्दुवृष्टिसदृशीम्—अच्छिन्ना = अनवरता या अमृतबिन्दूनाम् = सुधासीकराणां, वृष्टिः = वर्षणम्, तत्सदृशीम् । प्रीतिम्—आनन्दम्, ददत्याः = वितरन्त्याः, अवलोकनेन सुधामिव वर्षन्त्या इति भावः । विगलत्पयोधरपटात्—विगलन् = स्रंसमानः, यः पयोधरपटः = स्तनांशुकं तस्मात्, चन्द्रमसः पक्षे विगलन् = अपसरन् पयोधरः = मेघ एव पटः, तस्मात् । कामपि = अनिर्वचनीयाम्, द्रष्टव्यताम् = दर्शनीयताम्, यातायाः = प्राप्तायाः (अतएव) चन्द्रमसः = चन्द्रस्य, तनोरिव - व्यक्तेरिव, अस्याः = आरण्यकायाः, करस्पर्शास्पदत्वम्—करस्पर्शस्य = हस्तसंपर्कस्य, पक्षे किरणसम्पर्कस्य आस्पदत्वम् = स्थानताम्, गताः, करस्पर्शमवाप्ता इत्यर्थः । एते पद्माः = कमलानि, सहसा = हठात्, यत् न मुकुलीभवन्ति = सङ्कोचं नाप्नुवन्ति, तदेव अद्भुतम् = आश्चर्यंकरम् । अमृतबिन्दून् वर्षन्त्याः पयोधरपटस्य विगलनाद्रमणीयां दर्शनीयतां यातायाश्च चन्द्रमसस्त-

---

हुए करपल्लव के शोभाधिक्य से कमल वन की शोभा को तिरस्कृत कर रही है ।

राजा — वयस्य, यह सत्य ही है देखो—

अवलोकन से अनवरत सुधासीकरों की वृष्टि सदृश आनन्द प्रदान करती हुई पयोधर पट (१–स्तनांशुक, २–मेघरूप आवरण) के हट जाने से अनिर्वचनीय दर्शनीयता को प्राप्त (अतएव) चन्द्रमा की अभिव्यक्ति-सदृश इस (सुन्दरी)

आरण्यका—(भ्रमरसंबाधं नाटयन्ती) **हा धिक् हा धिक्। एते खल्वपरे परित्यज्य कमलिनीं नीलोत्पलवनानि समापतन्तो निपुणतरं बाधमाना आयासयन्ति मां दुष्टमधुकराः।** (उत्तरीयेण मुखं पिधाय सभयम्) **हला इन्दीवरिके, परित्रायस्व मां परित्रायस्व माम्। एते दुष्टमधुकराः परिभविष्यन्ति** (हद्धि हद्धि। एदे क्खु अवरे परिच्चइअ कमलिणीं णीलुप्पलवणाइ समापडन्ता णिउणअरं वाधन्ता आआसअन्ति मं दुट्ठमहुअरा। हला इन्दीवरिए परित्ताएहि मं परित्ताएहि मं। एदे दुट्ठमहुअरा परिभविस्सन्ति।)

विदूषकः—भो वयस्य, पूर्णास्ते मनोरथाः यावदेव गर्भदास्याः

नोरिवारण्यकायाः करस्पर्शरूपहेतौ सत्यपि कमलसङ्कोचरूपफलाभावप्रतिपादनाद् विशेषोक्तिरलङ्कारः। व्यतिरेकसङ्कीर्णोपमेति केचित्। अस्मिन् पद्ये 'पद्माः' इति पदे 'अप्रयुक्तत्वदोषः, कोषादौ पद्मशब्दस्य पुँल्लिङ्गत्वेन प्रसिद्धावपि कविसम्प्रदाये नपुंसकलिङ्ग एव प्रयोगात्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७ ॥

आरण्यकेति। अपरे = वेणीग्रथितकुसुमाकृष्टमधुकरेभ्योऽन्ये। समापतन्तः = अभिगच्छन्तः। निपुणतरम् = सातिशयम्। वाधमानाः - उपद्रवं कुर्वन्तः। माम् – आरण्यकाम्। आयासयन्ति = पीडयन्ति। परिभविष्यन्ति = पीडयिष्यन्ति।

विदूषक इति। गर्भदास्याः सुता = गर्भादारभ्य दासीति गर्भदासी

के कर स्पर्श के विषय होने पर (भी) जो ये कमल सहसा मुकुलित नहीं हो रहे हैं यही आश्चर्य है (जब कि चन्द्रमा के कर स्पर्श से कमल सङ्कुचित हो जाते हैं) ॥ ७ ॥

आरण्यका— (भौंरों द्वारा तंग किये जाने का अभिनय करती हुई)

हाय ! हाय ! (वेणी में गुँथे फूलों की सुगन्ध से आकृष्ट भौंरों से) अतिरिक्त दुष्ट ये भौंरे कमलिनी को छोड़कर नीलकमलों के वनों की ओर जाते हुए अत्यन्त उपद्रव करते हुए मुझे पीड़ित कर रहे हैं। सखी इन्दीवरिके, मुझे बचाओ मुझे बचाओ।

विदूषक— अजी वयस्य, तुम्हारे मनोरथ पूरे हुए, जब तक वह गर्भ-दासी

सुता नागच्छति, तावदेव त्वमपि तूष्णीको भूत्वोपसर्प। एषापि सलिलशब्दश्रुतेन पदसंचारेणेन्दीवरिका गच्छतीति ज्ञात्वा त्वामेवावलम्बिष्यते। (भो वअस्स, पुण्णा दे मणोरहा। जाव एव्व गब्भदासीए सुदा ण आअच्छदि दाव एव्व तुमं वि तुण्हीको भविअ उवसप्प। एषा वि सलिलसद्दसुणिदेण पदसंचारेण इन्दीवरिआ आअच्छदित्ति जाणिअ तुमं एव्व ओमम्बिस्सदि)

राजा—साधु वयस्य साधु। कालानुरूपमुपदिष्टम्।

(इत्यारण्यकासमीपमुपसर्पति)

आरण्यका—(पदशब्दाकर्णनं नाटयन्ती) **इन्दीवरिके, लघूपसर्प लघूपसर्प। आकुलीकृतास्मि दुष्टमधुकरैः।** (इन्दीवरिए, लहु उवसप्प लहु उवसप्प। आउलीकिदह्मि दुट्ठमहुअरेहिं। (राजानमवलम्बते)

(राजा कण्ठे गृह्णाति। आरण्यकोत्तरीयं मुखादपनीय राजानमपश्यन्ती भ्रमरावलोकनं नाटयति)

तस्याः सुता = पुत्री निन्दनीयेन्दीवरिकेत्यर्थः। तूष्णीकः = मौनावलम्बी। उपसर्प = उपगच्छ। सलिलशब्दश्रुतेन – सलिले = जले, यः शब्दः = चरणन्यासजातः शब्दः इत्यर्थः, तेन श्रुतः = निर्धारितः इत्यर्थः, तेन।

राजेति। कालानुरूपम् = समयोचितम्।

आरण्यकेति। लघु = क्षिप्रम्। उपसर्प = आगच्छ।

की पुत्री आ नहीं जाती तभी तक तुम भी चुप-चाप समीप चले जाओ। यह भी पानी में पैर रखने से उत्पन्न शब्द को सुनकर 'इन्दीवरिका आ रही है' — ऐसा जानकर तुम्हें ही पकड़ लेगी।

राजा— ठीक, वयस्य ठीक है। तुमने समय के अनुरूप बात बतायी।

(आरण्यका के समीप जाता है)

आरण्यका— (पद शब्द के सुनने का अभिनय करती हुई) इन्दीवरिके, जल्दी आओ, जल्दी आओ। दुष्ट भौंरों ने मुझे परेशान कर दिया है।

(राजा गले से लग जाता है। आरण्यका मुँह पर से चादर हटा कर राजा को न देखती हुई भ्रमरों को देखने का अभिनय करती है)

राजा—(स्वोत्तरीयेण भ्रमरान्निवारयन्)

अयि विसृज विषादं भीरु भृङ्गास्तवैते
परिमलरसलुब्धा वक्त्रपद्मे पतन्ति ।
विकिरसि यदि भूयस्त्रासलोलायताक्षी
कुवलयवनलक्ष्मीं तत्कुतस्त्वां त्यजन्ति ॥ ८ ॥

आरण्यका—(राजानं दृष्ट्वा साध्वसं नाटयन्ती) **कथं नैषेन्दीवरिका ?** (सभयं राजानं त्यक्त्वापसरन्ती) **इन्दीवरिके, लघ्वागच्छ लघ्वागच्छ । परित्रायस्व माम् ।** (कहं ण एसा इन्दीवरिआ । इन्दीवरिए, लहु आअच्छ लहु आअच्छ । परित्ताएहि मं)

अयि विसृजेति । अयि भीरु = भीते ! विषादम् = भीतिजनितं खेदम्, विसृज = मुञ्च । एते परिमलरसलुब्धाः = सुगन्धास्वादाकृष्टा भ्रमराः, तव वक्त्रपद्मे = मुखकमले पतन्ति । त्रासलोलायताक्षी—त्रासेन = भयेन, लोले = चञ्चले, आयते = विशाले, अक्षिणी = नेत्रे यस्यास्तादृशी सती यदि भूयः = पुनः पुनः, (इतस्ततो दृक्पातेन) कुवलयवनलक्ष्मीम् = नीलकमलशोभाम्, विकिरसि = प्रसारयसि, तत् = तदा, त्वाम्, कुतः त्यजन्ति ? अयि भीरु विषादं त्यक्त्वा स्थिरा भव । भयेनेतस्ततो दृक्पातं मा कुरु अन्यथा त्वदीय-नेत्रप्रभया कुवलयवनं निश्चिन्वन्त एते सुगन्धलोभाकृष्टा मधुपास्तव परिसरं कदापि न त्यक्ष्यन्तीति भावः । मालिनी वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा – 'ननमयय-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।' इति ॥ ८ ॥

आरण्यकेति—साध्वसम् = भयम् । नाटयन्ती = अभिनयन्ती ।

राजा— (अपनी चादर से भौंरों को दूर हटाता हुआ)

अरी ओ भीरु, विषाद छोड़ो । ये भौंरे सुगन्ध के आस्वाद से आकृष्ट हो तुम्हारे मुख कमल पर टूट रहे है । फिर भी यदि भय से तुम अपने चञ्चल विशाल नेत्रों को इधर-उधर घुमा कर कुमुद की शोभा का प्रसार करोगी तो भला ये भौंरे तुम्हें कैसे छोड़ेंगे ? ॥ ८ ॥

आरण्यका—(राजा को देखकर भय का अभिनय करती हुई) क्यों, यह इन्दीवरिका नहीं है ? (राजा को सभय छोड़कर दूर हटती हुई) इन्दीवरिके,

विदूषकः—भवति, सकलपृथ्वीपरित्राणसमर्थेन वत्सराजेन परित्रायमाणा चेटीमिन्दीवरिकामाक्रन्दसि । (होदि, सअलपुड्वीपरित्ताणसमत्थेण वच्छराएण परित्ताअन्ती चेडिं इन्दीवरिअं अक्कन्देसि)

(राजा 'अयि विसृज—' इत्यादि पुनः पठति)

आरण्यका—(राजानमवलोक्य सस्पृहं सलज्जं चात्मगतम्) **अयं खलु स महाराजो यस्याहं तातेन दत्ता । स्थाने खलु तातस्य पक्षपातः ।** (अअं क्खु सो महाराओ जस्स अहं तादेण दिण्णा । ठाणे क्खु तादस्स पक्खवादो) [आकुलतां नाटयति]

चेटी—आयासिता खल्वारण्यका दुष्टमधुकरैः । तद्यावदुपसृत्य समाश्वासयामि । आरण्यके, मा बिभिहि । एषोपागतास्मि । (आआसिआ क्खु आरण्णआ दुट्ठमहुअरेहिं ता जाव उवसप्पिअ समस्सासेमि । आरण्णए, मा भआहि । एसा उवाअदम्हि ।)

विदूषक इति । सकलपृथिवीत्राणसमर्थेन—सकलायाः समग्रायाः, पृथिव्याः, त्राणे = रक्षणे समर्थः = प्रभुः, तेन । सकलपृथिवीरक्षकः स्वयं वत्सराजस्त्वां परित्रायते पुनरपि चेटी–मिन्दीवरिकामाक्रन्दसीत्यहो ते मौग्ध्यं भीरुत्वं चेति विदूषोक्तेरभिप्रायः ।

आरण्यकेति । स्थाने = युक्तः । तातस्य = पितुः, दृढवर्मण इत्यर्थः । पक्षपातः = न ह्यन्ये, वत्सराज एव ममकन्यानुरूपो वर इत्याग्रह इत्यर्थः ।

शीघ्र आओ, शीघ्र आओ । बचाओ मुझे ।

विदूषक—श्रीमतीजी, सकल पृथ्वी के रक्षक वत्सराज तुम्हारी रक्षा कर रहे हैं, फिर भी तुम दासी इन्दीवरिका को पुकार रही हो ।

(राजा 'अयि विसृज' इत्यादि पुनः पढ़ता है)

आरण्यका—(राजा को देखकर, सस्पृह तथा सलज्ज मन ही मन) वे महराज यही हैं जिनके लिए मुझे पिता ने दिया था । पिता जी का पक्षपात युक्त ही था ।

चेटी—दुष्ट मधुकरों ने आरण्यका को परेशान कर रक्खा है, अतः उसके पास चलकर उसे आश्वस्त करूं । आरण्यके, भय मत करो, यह मैं पहुंच गयी ।

विदूषकः—भोः अपसरापसर। एषा खल्विन्दीवरिकागता। तदेतं वृत्तान्तं प्रेक्ष्य देव्यै निवेदयिष्यति। (अङ्गुल्या निर्दिश्य) तदिदमेव कदलीगृहं प्रविश्य मुहूर्तं तिष्ठावः। (भो ओसर ओसर। एसा क्खु इन्दीवरिआ आअदा। ता एदं उत्तन्तं पेक्खिअ देवीए णिवेदइस्सदि। ता इमं एव्व कदलीघरं पविसिअ मुहुत्तं चिट्ठह्म।)

(उभौ तथा कुरुतः)

चेटी—(उपसृत्य कपोलौ स्पृशन्ती) हञ्जे आरण्यके, कमलसदृशस्य तव वदनस्यायं दोषो यन्मधुकरा एवमपराध्यन्ति। (हस्ते गृहीत्वा) तदेहि गच्छावः परिणतो दिवसः। (हञ्जे आरण्णए; कमलसरिसस्स तुह वअणस्स अअं दोसो जं महुअरा एव्वं अवरज्झन्ति। ता एहि गच्छह्म। परिणदो दिअहो)

(गमनं नाटयतः)

आरण्यका—(कदलीगृहाभिमुखमवलोक्य) हञ्जे इन्दीवरिके, अतिशिशिरतया सलिलस्योरुस्तम्भ इव समुत्पन्नः। तच्छनैः शनैर्गच्छावः।

विदूषक इति। अपसर = पलायस्व शीघ्रम्।

आरण्यकेति। सलिलस्य = जलस्य। अतिशिशिरतया = अतिशीतलतया। ऊरुस्तम्भः = ऊर्वोर्जडत्वम्।

विदूषक—अजी, दूर हटो, दूर हटो। यह इन्दीवरिका आयी, इस वृत्तान्त को देख कर देवी से कह देगी। (अँगुली से निर्देशकर) तो इसी कदली-गृह में प्रविष्ट हो थोड़ी देर रुकें।

(दोनों वैसा करते हैं)

चेटी— (समीप जाकर कपोलों को सहलाती हुई) सखी आरण्यके, यह तुम्हारे कमलसदृश मुख का ही दोष है जो भौंरे इस तरह परेशान करने का अपराध करते हैं। (हाथ पकड़ कर) तो आओ चलें। दिन ढल चुका है।

(जाने का अभिनय करती हैं)

आरण्यका—(कदली-गृह की ओर देखकर) सखी इन्दीवरिके, जलकी अतिशीतलता के कारण जाँघें जकड़-सी गयी हैं, अतः धीरे-धीरे चलें।

(हञ्जे इन्दीवरिए, अदिसिसिरदाए सलिलस्य ऊरुस्थम्भो विअ समुप्पण्णो। ता सणिअं सणिअं गच्छह्म)

चेटी—तथा। (तह) [इति निष्क्रान्ते]

विदूषकः--भो एहि निष्क्रामावः। तां गृहीत्वैषा दास्याः सुतेन्दीवरिका गता। (भो एहि णिक्कमह्म। तं गेण्हिअ एसा दासीए सुदा इन्दीवरिआ गदा)

राजा—(निःश्वस्य) कथं गता। सखे वसन्तक, नखल्वविघ्नमभिलषितमधन्यैः प्राप्यते। (विलोक्य) सखे, पश्य पश्य—

आबद्धमुखमपीदं कण्टकितं कमलकाननं तस्याः।
सुकुमारपाणिपल्लवसंस्पर्शजसुखं कथयतीव॥ ९॥

राजेति। न खल्वविघ्नमभिलषितमधन्यैः प्राप्यते—मादृशस्य भाग्यहीनस्य मनोरथसिद्धौ सर्वथा बाधैव, ते केचनान्ये महाभागा ये निर्बाधमभिलषितं वस्तु प्राप्नुवन्ति न हि मादृशा अधन्या इति वत्सराजोक्तेरभिप्रायः।

आबद्धमुखमिति। आबद्धमुखम्—आबद्धम् = सङ्कुचितम्, मुखम् = वदनमग्रभागश्च यस्य तत्, अत एव स्पष्टमभिधातुमक्षममिति भावः। तथापि कण्टकितम् = सरोमाञ्चं कण्टकयुक्तं च, इदम् = आरण्यकयावचितपुष्पम्, कमलकाननम् पद्मवनम्, तस्याः = आरण्यकायाः, सुकुमारपाणिपल्लवसंस्पर्शसुखम्—सुकुमारः = सुकोमलः पाणिपल्लवस्तस्य संस्पर्शेन जातं सुखं कथयतीव। एतत् पद्मवनं तस्या आरण्यकायाः कोमलकरस्पर्शेन जातं यत्सुखमन्वभूत्तदाबद्धमुखत्वात्स्फुटं नाभिदधाति तथाप्यस्य सरोमाञ्चता तत्सर्वं व्यञ्जयतीवेति भावः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। आर्या जातिः॥ ९॥

चेटी— ठीक है। (दोनों चली गयीं)

विदूषक— अजी आओ निकल चलें। उसे लेकर यह दासी की छोकरी इन्दीवरिका गयी।

राजा— (आह भर कर) क्यों चली गयी। सखे वसन्तक, अभागों को निर्विघ्न अभिलषित की प्राप्ति नहीं होती। (देखकर) सखे, देखो देखो—

यह कमलवन यद्यपि आवद्धमुख (मुकुलित) हो रहा है तथापि कण्टकित (रोमाञ्च-सदृश कण्टकों से युक्त) है, मानों उसके सुकुमार, करस्पर्श से जात सुख को अभिव्यक्त कर रहा है॥ ९॥

(निःश्वस्य) सखे, क इदानीमुपायः पुनस्तां द्रष्टुम् ।

विदूषकः—भो त्वमेव पुत्तलिकां भङ्क्त्वेदानीं रोदिषि । न मे मूर्खस्य ब्राह्मणस्य वचनं करोषि । (भो तुमं एव्व पुत्तलिअं भञ्जिअ दाणिं रोदिसि । ण मे मुक्खस्स वह्मणस्य वअण करेसि)

राजा—किं मया न कृतम् ।

विदूषकः—तदिदानीं विस्मृतम्, यत् तूष्णीको भूत्वोपसर्पेति मया भणितम् । अतिसंकटे भवान्प्रविश्यालीकपाण्डित्यदुर्विदग्धतया 'अयि विसृज विषादम्' इत्येतैरन्यैश्च कटुवचनैर्निर्भर्त्स्य सांप्रतं किं रोदिषि । पुनरप्युपायं पृच्छसि । (तं दाणिं विसुमरिदं, जं तुण्हीको भविअ उवसप्पेत्ति मए भणिदं' । अदिसंकडे भवं पविसिअ अलिअपण्डिच्चदुव्विदद्धदाए 'अइ विसिज विसादं' त्ति एदेहिं अण्णेहिं अ कडुवअणेहिं णिब्भच्छिअ संपदं किं रोदिसि । पुणो वि उवाअं पुच्छसि ।)

विदूषक इति । त्वमेव पुत्तलिकां भङ्क्त्वेदानीं रोदिषि—यथा कश्चन बालकः स्वयमेव क्रीडापुत्तलिकां भङ्क्त्वा पुनस्तत्कृते रोदिति तथैव त्वमपि हस्तगतां तां प्रियाम् 'अयि विसृजे' त्याद्यभिधायापसारितवान् पुनरपि तां प्राप्तुं रोदिषीत्यर्थः । अलीकपाण्डित्यदुर्विदग्धतया—अलीकम् = मिथ्या यत् पाण्डित्यम् = वैदुष्यम्, तेन दुर्विदग्धः = पण्डितम्मन्यः, तस्य भावस्तत्ता तया । निर्भर्त्स्य = अवमत्य ।

विदूषक— तुम स्वयं खिलौना तोड़ कर अब रो रहे हो । मुझ मूर्ख ब्राह्मण के वचन तो मानते नहीं हो ।

राजा— मैंने तुम्हारा कौन सा कहना नहीं किया ?

विदूषक— अब वह बात भूल गयी क्या ? जो मैंने कहा था कि चुप-चाप उसके पास जाना ।

तुम अतिसंकट के समय में पहुँच कर झूठ-मूठ अपने चातुर्य के घमण्ड पर 'अयि विसृज विषादम्' इत्यादि और ऐसे ही अन्य कटुवाक्यों से भर्त्सित कर अब रोते क्यों हो, तिस पर भी उपाय पूछते हो ।

राजा--कथं समाश्वासनमपि निर्भर्त्सितमिति भणितं मूर्खेण।

विदूषकः--ज्ञातमेव कोऽत्र मूर्ख इति। तत्किमेतेन। अस्तमयाभिलाषी भगवान्सहस्त्ररश्मिः। तदेह्यभ्यन्तरमेव प्रविशावः। (जाणिदं एव्व को एत्थ मुक्खोत्ति। ता किं एदेण। अत्थमआहिलासी भअवं असस्सरस्सी। ता एहि अब्भन्तरं (एव्व पविसह्म।)

राजा—(विलोक्य) अये, परिणतप्रायो दिवसः। अहह। संप्रति हि।

हृत्वा पद्मवनद्युतिं प्रियतमेवेयं दिनश्रीर्गता
रागोऽस्मिन्मम चेतसीव सवितुर्बिम्बेऽधिकं लक्ष्यते।

राजेति। समाश्वासनम् = धैर्यप्रदानम्। निर्भर्त्सितम् = भर्त्सना, भावे क्तः।

विदूषक इति। अस्तमयाभिलाषी = आसन्नास्तमयः। सहस्त्ररश्मिः = सूर्यः।

हृत्वेति। इयं दिनश्रीः = दिवसलक्ष्मीः, पद्मवनद्युतिम्—पद्मवनस्य द्युतिम् = शोभाम्, हृत्वा, प्रियतमेव = आरण्यकेव, गता। अस्मिन् = पुरो दृश्यमाने, सवितुः = सूर्यस्य, बिम्बे = मण्डले, मम = वत्सराजस्य, चेतसीव = चित्त इव, रागः रक्तिमा, अनुरागश्च अधिकं लक्ष्यते = दृश्यते। चक्राह्वः = चक्रवाकः, अहमिव = वत्सराज इव, सहचरीम् = प्रियाम्, ध्यायन् = मनसा स्मरन्, नलिन्याः = वाप्याः, तटे स्थितः। ममेव = वत्सराजस्येव, भुवनस्यापि =

राजा—क्यों, समाश्वासन को भी इस मूर्ख ने भर्त्सना कह दिया।

विदूषक—समझ ही गये होंगे कि हम में कौन मूर्ख है। अब इससे क्या। सूर्य डूबना चाहता है, अतः भीतर ही चलें।

राजा— (देख कर) अरे, दिन लगभग ढल चुका। अहह ! इस समय—

(अपनी मुख कान्ति से) पद्मवन को पराभूत कर गयी हुई मेरी प्रिया (आरण्यका) के समान यह दिवसलक्ष्मी पद्मवन को शोभा-रहित कर गयी। जैसे मेरे चित्त में राग (अनुराग) है वैसे ही इस सूर्यमण्डल में राग (रक्तिमा)

चक्राह्वोऽहमिव स्थितः सहचरीं ध्यायन्नलिन्यास्तटे
सञ्जाताः सहसा ममेव भुवनस्याप्यन्धकारा दिशः ॥ १० ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

—:०-०:—

जगतोऽपि, दिशः सहसा अन्धकाराः = अन्धकारयुक्ताः ('अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्) सञ्जाताः । इयं दिवसलक्ष्मीः पद्मवनं शोभारहितं कृत्वा गता यथा मम प्रियाऽऽरण्यका स्वमुखकान्त्या पद्मवनं पराभूतं कृत्वा गता । अस्मिन् सूर्यमण्डले रागः (रक्तिमा) प्राचुर्येण दृश्यते यथा मम चित्ते रागः (अनुरागः) । चक्रवाकः प्रियां मनसा स्मरन् अहमिव वापीतटे स्थितः । संसारं परितस्तथैव तमः प्रसरति यथा मां परितः प्रियादौर्लभ्यजन्यनैराश्यरूपं तमः । उपमाऽलंकारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १० ॥

इति कल्याण्याख्यायां प्रियदर्शिकाव्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः ।

———

प्रचुरता से दिखायी दे रहा है । मेरी ही तरह चक्रवाक अपनी प्रिया का ध्यान करता हुआ वापी के किनारे स्थित है । जैसे मेरे चारों ओर निराशा का अन्धकार फैल रहा है वैसे ही संसार में चारों ओर अन्धकार फैल रहा है ॥ १० ॥

[सभी का प्रस्थान]

द्वितीय अङ्क समाप्त

—: ० :—

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति मनोरमा)

मनोरमा—आज्ञप्तास्मि देव्या वासवदत्तया—'हञ्जे मनोरमे, यः स साङ्कृत्यायन्यार्यपुत्रस्य मम च वृत्तान्तो नाटकोपनिबद्धः, तस्य नर्तितव्यशेषमद्य युष्माभिः कौमुदीमहोत्सवे नर्तितव्यम्' इति। ह्यः खल्वारण्यकया प्रियसख्या शून्यहृदययान्यथैव नर्तितम्'। अद्य पुनर्वासवदत्ताभूमिकया तया यदि तथा क्रियते ततोऽवश्यं देवी कोपिष्यति। तत्कुत्र तावत्तां प्रेक्ष्योपालप्स्ये। (विलोक्य) एषारण्यकात्मनैव किमपि किमपि मन्त्रयमाणा

मनोरमेति। नर्तितव्यशेषम्—अभिनेयभागो योऽभिनेतुमवशिष्टः। कौमुदीमहोत्सवे—कौमुदीमहोत्सवो नामोत्सवविशेषो य आश्विनपूर्णिमायां क्रियते, तस्मिन्। शून्यहृदयया—शून्यम् = अन्यत्रगतम्, हृदयं यस्यास्तादृश्या सत्या, अन्यमनस्कयेत्यर्थः। वासवदत्ताभूमिकया = गृहीतवासवदत्तवेषया। मन्त्रयमाणा

(तदनन्तर मनोरमा का प्रवेश)

मनोरमा—महारानी वासवदत्ता ने मुझे आज्ञा दी है—'अरी मनोरमे, साङ्कृत्यायनी ने वह जो आर्यपुत्र का और मेरा वृत्तान्त नाटकरूप में निबद्ध किया है, उसका जो अंश अभिनय करने से रह गया है, तुम लोग उसका भी अभिनय आज कौमुदी महोत्सव के अवसर पर सम्पन्न कर लो।' कल प्रियसखी आरण्यका ने अन्यमनस्क होकर कुछ दूसरे ही ढंग से अभिनय कर दिया था। आज फिर वासवदत्ता का पार्ट लेकर यदि वह वैसा ही करेगी तो महारानी अवश्य कुपित होंगी। तो वह कहाँ मिलेगी जो उसे उलाहना दूँ। (देखकर) यही तो आरण्यका अपने ही आप कुछ कहती हुई वापी के किनारे वाले कदली-गृह में प्रवेश कर रही है। अतः झाड़ी में छिप कर तब तक इसकी गुप्त बातें सुनूंगी!

दीर्घिकातीरे कदलीगृहं प्रविशति। तद्गुल्मान्तरिता भूत्वा श्रोष्यामि तावदस्या विस्रब्धजल्पितानि। (आणत्तह्मि देवीए वासवदत्ताए-'हञ्जे मणोरमे, जो सो संगिच्चायणीए अज्जउत्तास्स मम अ उत्तान्दो णाडओवणिवद्धो, तस्स णच्चिदव्वसेसं अज्ज तुह्मेहिं कोमदीमहूसवे णच्चिदव्वं' त्ति। हिओ क्खु आरण्णआए पिअसहिए सुण्णहिअआए अण्णहा एव्व णच्चिदं। अज्ज उण वासवदत्ताभूमिआए ताए जइ तह करीअदि तदो अवस्सं देवी कुप्पिस्सदि। ता कहिं दाव तं पेक्खिअ उवालम्भिस्सं। एसा आरण्णआ अप्पणा एव्व किं वि किं वि मन्तअन्ती दिग्घिआतीले कदलीघरअं पविसदि। ता गुम्मन्तरिआ भविअ सुणिस्सं दाव से वीसद्धजप्पिदाणि।) [इति प्रवेशकः]

(ततः प्रविशत्यासनस्था कामावस्थां नाटयन्त्यारण्यका)

आरण्यका—(निःश्वस्य) **हृदय, दुर्लभजनं प्रार्थयमानं त्वं कस्मान्मां दुःखितां करोषि।** (हिअअ, दुल्लहजणं पत्थअन्तो तुमं कीस मं दुक्खिदंकरेसि)

मनोरमा—तदेतच्छून्यहृदयत्वस्य कारणम्। कं पुनरेषा प्रार्थयते? अवहिता तावच्छ्रोष्यामि। (तं एदं सुण्णहिअअत्तणस्स कारणं। कं उण एसा पत्थेदि। अवहिदा दाव सुणिस्सं।)

=अभिदधाना। गुल्मान्तरिता—गुल्मेन = लताजालेन अन्तरिता = आच्छन्ना। विस्रब्धजल्पितानि – स्वैरस्वगतभाषणानि।

आरण्यकेति। दुर्लभजनम् = वत्सराजमित्यर्थः। प्रार्थयमानम् = अभिलषत्, इदं हृदयस्य विशेषणम्।

मनोरमेति। शून्यहृदयत्वस्य = अन्यमनस्कतायाः। अवहिता = सावधाना।

[प्रवेशक समाप्त]

(तदनन्तर आसन पर स्थित, कामावस्था का अभिनय करती हुई आरण्यका का प्रवेश)

आरण्यका—(आह भर कर) हृदय, दुर्लभ जन की कामना करके तुम मुझे क्यों दुःखित करते हो?

मनोरमा—तो यह है, इसकी अन्यमनस्कता का कारण। यह चाहती है फिर किसे? जरा सावधान होकर सुनूंगी।

आरण्यका—(सास्रम्) **कथं तथा नाम शोभनदर्शनो भूत्वा महाराज एवं सन्तापयति माम् । आश्चर्यमाश्चर्यम् ।** (निःश्वस्य) **अथवा ममैवैषाऽभागधेयता । न पुनर्महाराजस्य दोषः ।** (कहं तह णाम सोहणदंसणो भविअ महाराओ एव्वं सन्दावेदि मं । अच्चरिअं अच्चरिअं । अहवा मह एव्व एसा अभाअहेअदा । ण उण महाराअस्स दोसो ।)

मनोरमा—(सवाष्पम्) **कथं महाराज एवास्याः प्रार्थनीयः साधु प्रियसखि साधु । आभिजात्यसदृशस्तेऽभिलाषः ।** (कहं महाराओ एव्व से पत्थणिज्जो । साहु विअसहि साहु । आभिजाअसरिसो दे अहिलासो)

आरण्यका—**कस्मै तावदेतं वृत्तान्तं निवेद्य सह्यवेदनमिव दुःखं करिष्यामि ।** (विचिन्त्य) **अथवा अस्ति मे हृदयनिर्विशेषा प्रियसखी मनोरमा । तस्या अप्येतल्लज्जया न पारयामि कथयितुम् । सर्वथा मरणं**

आरण्यकेति । शोभनदर्शनः = सुन्दराकृतिः । अभागधेयता = मन्दभाग्यत्वम् ।

मनोरमेति । आभिजात्यसदृशः – कौलीन्यानुरूपः ।

आरण्यकेति । सह्यवेदनम् - सह्या = सोढुं शक्या वेदना यस्य तादृशमिव । हृदयनिर्विशेषा - अभिन्नहृदयेत्यर्थः । पारयामि = शक्नोमि । निर्वृतिः = सुखम् ।

आरण्यका—(आँसू गिराती हुई) वैसे प्रियदर्शन होकर (भी) महाराज मुझे इस प्रकार कैसे सन्तप्त कर रहे हैं ? आश्चर्य है, आश्चर्य । (आह भर कर) अथवा यह मेरा ही दुर्भाग्य है, महाराज का दोष नहीं है ।

मनोरमा—(आँसू भर कर) क्यों, महाराज ही को यह चाहती है । ठीक है, प्रिय सखी, ठीक है । तुम्हारी अभिलाषा तुम्हारी कुलीनता के अनुरूप ही है ।

आरण्यका—(अपने) इस वृत्तान्त को किससे कह कर दुःख को हल्का करूँगी ? (सोच कर) अथवा मेरी अभिन्नहृदया प्रिय सखी मनोरमा है, किन्तु लज्जावश उससे भी यह बात नहीं कह सकती हूँ । सर्वथा मृत्यु के अतिरिक्त, कहाँ मेरे हृदय को शान्ति मिलेगी ?

वर्जयित्वा कुतो मे हृदयस्यान्या निर्वृतिः। (कस्स दाव एदं उत्तान्तं णिवेदिअ सज्झवेअणं विअ दुक्खं करिस्सं। अहवा अत्थि मे हिअअणिव्विसेसा पिअसही मणोरमा। ताए वि एवं लज्जाए ण पारेमि कहिदुं। सव्वहा मरणं वज्जिअ कुदो मे हिअअस्स अण्णा णिव्वुदी।)

मनोरमा—(सास्रम्) हा धिक् हा धिक्। अतिभूमिं गतोऽस्यास्तपस्विन्या अनुरागः। तत्किमिदानीमत्र करिष्यामि। (हद्धि हद्धि। अदिभूमिं गदो से तवस्सिणीये अणुराओ। ता किं दाणिं एत्थ करिस्सं)

आरण्यका—(साभिलाषम्) अयं स उद्देशः, यस्मिन्मधुकरैरायास्यमानावलम्ब्य महाराजेन समाश्वासितास्मि 'भीरु मा बिभीहि' इति (अअं सो उद्देशो, जस्सिं महुअरेहिं आआसिज्जन्तो ओलम्बिअ महाराएण समस्सासिदह्मि 'भीरु मा भआहि' त्ति)

मनोरमा—(सहर्षम्) कथमेषापि दृष्टा महाराजेन। सर्वथास्त्यस्या जीवितव्यस्योपायः यावदुपसृत्य समाश्वासयाम्येनाम्। (सहसोपसृत्य) युक्तं नाम हृदयस्यापि लज्जितुम्?। (कहं एसा वि दिट्ठा महाराएण।

मनोरमेति। अतिभूमिं गतः = परां कोटिमापन्नः। तपस्विन्याः — तपस्विनी = शोच्या, वराकीत्यर्थः, तस्याः।

युक्तं नाम हृदयस्यापि लज्जितुम् — न हि कश्चन हृदयाल्लज्जते। अहं ते हृदयनिर्विशेषा प्रियसखी। त्वया मत्तोऽपि लज्जा कृतेति न युक्तं कृतमिति मनोरमोक्तेराशयः।

मनोरमा—(आँसू भर कर) हाय! हाय! इस वेचारी का अनुराग सीमा पार कर गया है। तो इस विषय में इस समय मैं क्या कर सकती हूँ।

आरण्यका—(साभिलाष) वही यह स्थान है, जहाँ भौंरों के द्वारा सतायी जाती मैं पकड़ कर महाराज के द्वारा आश्वस्त की गयी थी कि अरी भीरु डरो मत!

मनोरमा—(सहर्ष) क्यों, महाराज ने इसे भी देखा है। तब तो सर्वथा इसके जीने का उपाय है। तो इसी समय समीप पहुंच कर इसे

सव्वहा अत्थि से जीविदव्वस्स उवाओ। जाव उवसप्पिअ समस्सासेमि णं। जुत्तं णाम हिअअस्स विलज्जिदुं ?)

आरण्यका—(सलज्जमात्मगतम्) **हा धिक् हा धिक्। सर्वं श्रुतमेतया। तदत्र युक्तमेव प्रकाशयितुम्।** (प्रकाशं हस्ते गृहीत्वा) **प्रियसखि, मा कुप्य मा कुप्य। लज्जात्रापराध्यति।** (हद्धि हद्धि। सव्वं सुदं एदाए। ता एत्थ जुत्तं एव्व पआसइदुं पिअसहि, मा कुप्प मा कुप्प। लज्जा एत्थ अवरज्झदि)

मनोरमा—(सहर्षम्) **सखि, अलं शङ्कया। एतन्मे आचक्ष्व—सत्यमेव त्वं महाराजेन दृष्टा न वेति।** (सहि, अलं सङ्काए। एदं मे आअक्खसच्चं एव्व तुमं महाराएण दिट्ठा ण वेत्ति)

आरण्यका—(सलज्जमधोमुखी) **श्रुतमेव प्रियसख्या सर्वम्।** (सुदं एव्व पिअसहीए सव्वं)

मनोरमा—यदि दृष्टा महाराजेन त्वं तदलं सन्तापितेन। स एवेदानीं दर्शनोपायपर्याकुलो भविष्यति। (जइ दिट्ठा महाराएण तुमं ता अलं सन्तप्पिदेण। सो एव्व दाणिं दंसणोवाअपज्जाउलो हविस्सदि)

आरण्यकेति। लज्जात्रापराध्यति – प्रिय सखि, कोपं मा गमः, महाराजविषयकस्य स्वानुरागस्याप्रकाशने लज्जैव प्रधानं कारणमिति तदुक्तेराशयः।

मनोरमेति। दर्शनोपायपर्याकुलः – महाराज आत्मनैव त्वदवलोकनोपायं

आश्वासन देती हूँ।

(सहसा समीप जाकर) क्या हृदय से भी लज्जा करना उचित है ?

आरण्यका—(लज्जा भाव से, मन ही मन) हाय, हाय, इसने सब सुन लिया। तब तो यही युक्त है कि सब प्रकाशित कर दिया जाय। (प्रकट रूप से, हाथ पकड़ कर) प्रिय सखी, अप्रसन्न न होओ, अप्रसन्न न होओ, इसमें लज्जा का अपराध है।

मनोरमा—(सहर्ष) सखि, शङ्का की कोई बात नहीं। यह मुझसे कहो कि सचमुच महाराज ने तुम्हें देखा है या नहीं।

आरण्यका—(सलज्ज, नीचे मुँह करके) तुमने सब सुन ही लिया है !

मनोरमा—यदि महाराज ने तुम्हें देख लिया है तब सन्ताप करने की

आरण्यका—(स्वगतम्) **अयं सखीजनः पक्षपातेन मन्त्रयते।** (प्रकाशम्) **अयि सखीपक्षपातिनि, देवीगुणनिगडनिबद्धे खलु तस्मिन् जने कुत एतत्।** (अअं सहीअणी पक्खवादेण मन्तेदि । अइ सहिपक्खवादिणि, देवीगुणणिअलणिबद्धे क्खु तस्सि जणे कुदो एदं)

मनोरमा—(विहस्य) **हला अपण्डिते, कमलिनीबद्धानुरागोऽपि मधुकरो मालतीं प्रेक्ष्याभिनवरसास्वादलम्पटः कुतस्तामनासाद्य स्थितिं करोति।** (हला अपण्डिदे, कमलिणीवद्धाणुराओ वि महुअरो मालदीं पेक्खिअ

चिन्तयितुं व्यग्रो भविष्यति, तदर्थं त्वं चिन्तापरा मा भवेति भावः ।

आरण्यकेति । अयं सखीजनः – इयं सखीन्दीवरिका । पक्षपातेन = मद्विषये स्नेहप्राचुर्येणेत्यर्थः, (एवं) मन्त्रयते = अभिदधाति । वस्तुस्थितिस्त्वन्यप्रकारैवेत्यर्थः । देवीगुणनिगडनिबद्धे – देव्याः = वासवदत्तायाः, गुणाः = सौन्दर्यादयः, त एव निगडः = लोहशृंखला तेन निबद्धे, तस्मिन् जने = वत्सराजे, कुतः = कस्मात्, एतत् = दर्शनोपायव्यग्रत्वम् । वासवदत्तया स्वसौन्दर्यादिभिः स्ववशीकृतो महाराजो मां चिन्तयिष्यतीति कथमपि भवितुं न शक्यमिति भावः ।

वासवदत्तायामनुरक्ते राजनि मद्विषयकोऽनुरागः कथमिवोत्पत्स्यत इति नैराश्यगर्भमारण्यकावचः श्रुत्वा मनोरमाऽऽरण्यकां प्रबोधयति, हलेति । अपण्डिते = मुग्धे, रसिकजनप्रवृत्त्यनभिज्ञे ! इत्यर्थः । कमलिनीबद्धानुरागः—कमलिन्यां बद्धः = दृढं धृतः, अनुरागः = स्नेहो येन तादृशोऽपि । मधुकरः = भ्रमरः । मालतीं प्रेक्ष्य = जातिपुष्पं दृष्ट्वा । अभिनवरसास्वादलम्पटः—अभिनवस्य रसस्य आस्वादे लम्पटः = लोलुपः । कुतः = कस्मात्, ताम् = मालतीम्, अनासाद्य = अप्राप्य, स्थितिं करोति = निवृत्तिं प्राप्नोति ? यथा मधुकरः

आवश्यकता नहीं । वे ही इस समय दर्शन के उपाय के लिए बेचैन होंगे ।

आरण्यका—(मन ही मन) यह सखी पक्षपात करके कह रही है । (प्रकट रूप में) अरी सखी का पक्षपात करने वाली, महारानी के गुण रूप शृङ्खला में वद्ध उन महाराज से ऐसी आशा कैसे की सकती है ?

मनोरमा—(हंसकर) अरी नासमझ, कमलिनी से अनुराग रखता

अहिणवरसास्सादलम्पडो कुदो तं अणासादिअ ट्ठिदिं करेदि)

आरण्यका—किमेतेनासम्भावितेन । तदेहि । अधिकं खलु शरदातपेन सन्तप्तान्यद्यापि न मेऽङ्गानि सन्तापं मुञ्चन्ति । (किं एदिणा असम्भाविदेण ता एहि । अहिअ क्खु सरदादवेण सतप्पाइ अज्ज वि ण मे अङ्गाइ सन्दावं मुञ्चन्दि)

मनोरमा—अयि लज्जालुके, न युक्तमेतामवस्थां गतयापि त्वया आत्मा प्रच्छादयितुम् । (अइ लज्जालुए, ण जुत्तं एदं अवस्थं गदाए वि तुए अप्पा पच्छादिदुं)

(आरण्यका मुखमवनमयति)

कमलिन्यां बद्धानुरागोऽपि मालतीं दृष्ट्वा तदभिनवरसजिघृक्षया तामभिधावति तथैव वासवदत्तायां दृढमनुरक्तोऽपि महाराजस्त्वदभिनवरसास्वादनाय त्वामवश्यमुपागमिष्यतीति मनोरमोक्तेराशयः ।

आरण्यकेति । लज्जाशीलाऽऽरण्यका स्ववस्तुस्थितिं प्रच्छादयितुं मनोरमामाह—किमेतेनेति । असम्भावितेन = असम्भविना । महाराजो वासवदत्तां परित्यज्य मामुपागमिष्यतीति तु कथमपि न संभविष्यति तत्परित्यजेमं प्रसङ्गमिति भावः । शरदातपेन = शरत्कालिकसूर्यकिरणैः ।

मनोरमेति । लज्जालुके = लज्जाशीले ! एतामवस्थाम् = ईदृशीं दीनां दशाम् । ईदृशीं दीनां दशां गतापि त्वं यद्वस्तुस्थितिं प्रच्छादयसि तन्न युक्तमिति भावः ।

हुआ भी भ्रमर मालती को देखकर अभिनव रस के आस्वादन के लिए लालायित होकर बिना उसे प्राप्त किये कैसे रह सकता है ?

आरण्यका—इस असम्भावित के विषय में बात करना निरर्थक है। तो आओ। शरत्कालिक धूप से अत्यन्त सन्तप्त मेरे अङ्ग अब भी सन्ताप का त्याग नहीं कर रहे हैं।

मनोरमा—अरी लज्जावती, इस अवस्था में पहुँच कर भी तुम्हें अपने को छिपाना उचित नहीं है।

(आरण्यका मुँह नीचे कर लेती है)

मनोरमा—अयि अविस्रम्भशीले, किमिदानीं प्रच्छादयसि। निःश्वासनिभविनिर्गतो दिवसं रात्रिमपि तवानुरागोऽविरतपतत्कुसुमशरशरनिवहप्रवृत्तहुङ्कारशब्द इव न भणति? (आत्मगतम्) अथवा न खल्वयं काल उपालम्भस्य। तत्तावन्नलिनीपत्राण्यस्या हृदये दास्यामि। (उत्थाय दीर्घिकाया नलिनीपत्राणि गृहीत्वारण्यका हृदये ददती) समाश्वसितु सखी समाश्वसितु। (अइ अविस्सम्भसीले, किं दाणिं पच्छादेसि। णीसासणिहविणिग्गओ दिअहं रत्तिं वि तुज्झ अणुराओ अविरदपडन्तकुसुमसरसरणिवहप्पउत्तहुङ्कारसद्दो विअ ण अहवा ण हु अअं कालो उवालम्भस्स। ता दाव णलिणीपत्ताइ से हिअए दाइस्सं। समस्ससदु सही समस्ससदु)।

(ततः प्रविशति विदूषकः)

अविस्रम्भशीले = अविश्वासकारिणि। इदानीम् = अधुना। किं प्रच्छादयसि = किं गोपयसि? तवाकारगोपनं व्यर्थमेवेति भावः। तदेवाह—निःश्वासेत्यादि। निःश्वासनिभविनिर्गतः—निःश्वासच्छलेन प्रकटीभवन्नित्यर्थः। दिवसं रात्रिमपि = अहर्निशम्। अविरतपतत्कुसुमशरशरनिवहप्रवृत्तहुङ्कारशब्द इव—अविरतम् = निरन्तरं, पतत् यः कुसुमशरस्य = कामदेवस्य, शराणाम् = वाणानां निवहः = समूहः, तस्मात् प्रवृत्तः = आविर्भूतः हुङ्कारशब्द इव। न भणति = सर्वमपि रहस्यमाख्यात्येवेति काकुध्वनिः। तत्कृतं रहस्यगोपनेनेति भावः।

मनोरमा—अरी अविश्वास करने वाली, तुम अब क्या छिपाती हो? विश्वास के बहाने दिन-रात प्रकट होता तुम्हारा अनुराग, निरन्तर गिरने वाले कामदेव के शर समुदाय से आविर्भूत हुङ्कार शब्द-सा क्या नहीं कह रहा है? (मन ही मन) अथवा यह खरी खोटी सुनाने का समय नहीं है। तो पहिले इसके हृदय पर कमलिनी के पत्ते रखती हूँ। (उठकर वापी से कमलिनी के पत्तों को लेकर आरण्यका के हृदय पर रखती हुई) सखी, धीरज धरो, धीरज धरो।

(तदनन्तर विदूषक का प्रवेश)

विदूषकः—अतिमहान्खलु प्रियवयस्यस्यारण्यकाया उपर्यनुरागः। येन परित्यक्तराजकार्यस्तस्या एव दर्शनोपायं चिन्तयन्नात्मानं विनोदयति। (विचिन्त्य) कुत्रेदानीं तां प्रेक्षे। अथवा तत्रैव तावद् दीर्घिकायामन्विष्यामि। (अदिमहन्तो क्खु पिअवअस्सस्स आरण्णआए उवरि अणुराओ। जेण परिच्चत्तराअकज्जो ताए एव्व दंसणोवाअं चिन्तअन्तो अप्पाणं विणोदेइ। कहिं दाणिं तं पेक्खामि। अहवा तहिं एव्व दाव दिग्घिआए अण्णेसामि) [परिक्रामति]

मनोरमा—(आकर्ण्य) पदशब्द इव श्रूयते। तत्कदलीगुल्मान्तरिते

विदूषक इति। खलु – सत्यमेव। प्रियवयस्यस्य = प्रियमित्रस्य, महाराजस्येत्यर्थः। आरण्यकाया उपरि = आरण्यकायामित्यर्थः। अतिमहान् = महत्तरः। अनुरागः = स्नेहः। तामेवानुरागमहत्तां प्रतिपादयति—येनेति। परित्यक्तराजकार्यः—परित्यक्तानि = विस्मृतानीति भावः, राजकार्याणि येन स तादृशः। तस्या एव = अरण्यकाया एव। दर्शनोपायं चिन्तयन्, आत्मानं विनोदयति = निर्वृतो भवति। महाराज आरण्यकायामीदृशो बद्धानुरागः सञ्जातो यत्सकलराजकार्याण्यपि विस्मृत्य तद्दर्शनोपायचिन्तने संलग्न आस्त इति विदूषकोक्तेरभिप्रायः।

इदानीम् = अधुना। ताम् = आरण्यकाम्। कुत्र प्रेक्षे = क्वान्विष्यामि। दीर्घिकायाम् = वाप्याम्, तत्परिसरे इत्यर्थः। पूर्वं तत्रैव राज्ञाऽऽरण्यका दृष्टाऽऽसीत् पुनस्तत्र तदागमनसंभावनया तत्र तदन्वेषणं युक्तमिति विचिन्त्य विदूषकस्य तथोक्तिरिति बोध्यम्। परिक्रामति = तत्र कियत्पदं सञ्चरति।

मनोरमेति। कदलीगुल्मान्तरिते—कदलीनाम् = कदलीपादपानां, गुल्मेन = कुञ्जेन, अन्तरिते = आच्छन्ने। प्रेक्षावहे = पश्यावः।

विदूषक—सचमुच प्रियवयस्य (वत्सराज) का आरण्यका पर बहुत अधिक अनुराग है जिससे राज-काज छोड़कर उसी के दर्शन का उपाय सोचते हुए वे अपने को बहलाया करते हैं। (सोचकर) इस समय उसे कहाँ देखूँ? अथवा उसी वापी के पास खोजूँ। (चलता है)

मनोरमा—(सुनकर) पैर की आहट-सी सुनायी दे रही है। इसलिए

भूत्वा पश्यावस्तावत्क एष इति । (पदसद्दो विव सुणीअदि । ता कदलीगुम्मन्तरिदा भविअ पेक्खह्म दाव को एसोत्ति)

(उभे तथा कृत्वा पश्यतः)

आरण्यका—कथं स एव महाराजस्य पार्श्वपरिवर्ती ब्राह्मणः । (कहं सो एव्व महाराअस्स पस्सपरिवट्टी वह्मणो)

मनोरमा—कथं वसन्तक एव (सहर्षमात्मगतम्) **अपि नाम तथा भवेत् ।** (कहं वसन्तओ एव्व । अविणाम तह हुवे)

विदूषकः—(दिशोऽवलोक्य) **किमिदानीमारण्यका सत्यमेव संवृत्ता ।** (किं दाणि आरण्णआ सच्चं एव्व संवुत्ता)

मनोरमा—(सस्मितम्) **सखि, राजवयस्यः खलु ब्राह्मणस्त्वामुद्दिश्य मन्त्रयते । तत्तावदवहिते शृणुवः ।** (सहि, राअवअस्सो क्खु वह्मणो तुमं

आरण्यकेति । पार्श्वपरिवर्ती = सहचरः, तत्सकलरहस्यवेत्तेति भावः ।

मनोरमेति । अपि नामेति संभावनायाम् । तथा भवेत् = महाराजेनाज्ञप्त आरण्यकामन्वेष्टुमागतो भवेदित्यभिप्रायः ।

विदूषक इति । किम्, इदानीम् = अधुना, सत्यमेव आरण्यका संवृत्ता—अरण्यं गता यत् साऽत्रापि न दृश्यते । इदानीं सा सत्यमेवान्वर्थाभिधाना सञ्जातेति भावः ।

मनोरमेति । राजवयस्यः = राज्ञः प्रियमित्रम् । त्वामुद्दिश्य = त्वद्विषय एव । मन्त्रयते = आलपति ।

केले की झुरमुट में छिपकर तवतक देखें कि यह कौन है ।

(दोनों वैसा कर देखती हैं)

आरण्यका—क्यों, वही महाराज के साथ रहने वाला ब्राह्मण है ।

मनोरमा—क्यों, वसन्तक ही है । (सहर्ष, मन ही मन) अगर वैसा ही हो जाता (तो क्या ही अच्छा होता) ।

विदूषक—(चारों ओर देखकर) क्या इस समय वह सचमुच आरण्यका हो रही है ? (किसी वन में भाग कर छिप गयी है जिससे कहीं दीख नहीं पड़ रही है)

मनोरमा—(हँसकर) सखी, राजा का मित्र ब्राह्मण तुम्हारे ही विषय

उद्दिसिअ मन्तेदि । ता दाव अवहिदा सुणह्म)

(आरण्यका सस्पृहं सलज्जं च शृणोति)

विदूषकः—(सोद्वेगम्) **यदा तावन्मया गुरुमदनसंतापनिस्सहस्य प्रियवयस्यस्यास्वस्थवचनेन देव्योर्वासवदत्तापद्मावत्योरन्यासां च देवीनां भवनान्यन्विष्यता न सा दृष्टा, तदा यत्र दीर्घिकायां दृष्टा एतामपि तावत्प्रेक्षिष्य इत्यागतोऽस्मि । तद्यावदिहापि नास्ति । किमिदानीं करिष्ये ।** (जदा दाव मए गुरुअमअणसंदावणीसहस्स पिअवअस्सस्स अस्सत्थवअणेण देवीणं वासवदत्तापदुमावदीणं अण्णाणं अ देवीणं भवणाइ अण्णेसन्तेण ण सा दिट्ठा, तदा जहि दिग्घिआए दिट्ठा एदं वि दाव पेक्खिस्स ति आअदोह्मि । ता जाव इह णत्थि । किं दाणिं करिस्सं)

मनोरमा—**श्रुतं प्रियसख्या ?** (सुदं पिअसहीए ?)

विदूषकः—(विचिन्त्य) **अथवा भणित एवाहं वयस्येन—यदि तामन्विष्यन्न प्रेक्षसे तत्ततोऽपि तावद्दीर्घिकातस्तस्याः करतलस्पर्शद्विगुणित-**

विदूषक इति । गुरुमदनसंतापनिस्सहस्य = कामजन्यतीव्रतरसन्तापसहनासमर्थस्य । प्रियवयस्य = महाराजस्येत्यर्थः । अस्वस्थवचनेन = सोद्वेगकथनेन ।

अथवेति पूर्वोक्तिसंशोधने । करतलस्पर्शद्विगुणितसुखशीतलानि—करतलस्य स्पर्शेन = पाणिसम्पर्केण, द्विगुणितसुखानि = द्विगुणितसुखदानीत्यर्थः, शीतलानि च ।

में कुछ कह रहा है, तो हम सावधानी से सुनें ।

(आरण्यका स्पृहा और लज्जा भाव से सुनती है)

विदूषक—(खेदपूर्वक) जब मैंने अत्यन्त अधिक कामपीडा को सहने में असमर्थ प्रियवयस्य के खेदपूर्ण वचन से देवी वासवदत्ता, पद्मावती और अन्य रानियों के महलों में ढूँढने पर उसे नहीं देखा तब जिस वापी के किनारे वह देखी गयी थी, उसे भी जरा देख लूँ, इसलिये यहाँ भी चला आया किन्तु वह यहाँ भी नहीं है, अब क्या करूँ ?

मनोरमा—सुना तुमने ?

विदूषक—(सोचकर) अथवा वयस्य ने कहा ही था—'यदि उसे

सुखशीतलानि नलिनीपत्राणि गृहीत्वागच्छ' इति। तत्कथमेतानि ज्ञातव्यानि। (अहवा भणिदो एव्व अहं वअस्सेण—'जइ तं अण्णेसन्तो ण पेक्खसि, ता तदो वि दाव दिग्घिआदो ताए करअलप्परिसदिउणिअसुहसीअलाइ णलिणीपत्ताइ गेण्हिअ आअच्छ' त्ति। ता कहं एदाइ जाणिदव्वाइ)

मनोरमा—अयं ममावसरः। (अअं मे अवसरो) (उपसृत्य विदूषकं हस्ते गृहीत्वा) **वसन्तक, एहि। अहं ते ज्ञापयामि।** (वसन्तअ, एहि। अहं दे जाणावेमि)

विदूषकः—(सभयम्) **कस्य त्वं ज्ञापयसि। किं देव्याः। न खलु मया किमपि मन्त्रितम्।** (कस्स तुमं जाणावेसि। किं देवीए। ण हु मए किं वि मन्तिदं)

मनोरमा—वसन्तक, अलं शङ्कया। यादृश्यारण्यकायाः कृते आत्मनः

मनोरमेति। वसन्तक, एहि = आगच्छ। अहं ते ज्ञापयामि—अहं (मनोरमा) तस्या आरण्यकायाः करतलस्पृष्टानि नलिनीपत्राणि त्वां ज्ञापयामीति मनोरमोक्तेरभिप्रायः। विदूषकस्तु मनोरमाकरिष्यमाणस्वरहस्योद्घाटनरूपमभिप्रायं मत्वा भीतोऽभूदिति बोध्यम्।

विदूषक इति। कस्य त्वं ज्ञापयसि—कस्याग्रे त्वं मद्रहस्यमुद्घाटयिष्यसीत्यर्थः। मन्त्रितम् = भणितम्।

मनोरमेति। अलं शङ्कया—वासवदत्तायाः पुरतस्त्वद्रहस्यमुद्घाटयामीति नास्ति मदुक्तेरभिप्रायस्तस्मान्मा भैषीरिति भावः।

खोजने पर न देख पाओ तो उस वापी से उसके करतल के स्पर्श के कारण दूने सुखद एवं शीतल कमलिनी के पत्तों को लेकर आ जाओ।' तो ऐसे पत्तों को जानूँ कैसे ?

मनोरमा—यही मेरे लिए उपयुक्त अवसर है। (समीप जाकर विदूषक का हाथ पकड़कर) वसन्तक आओ। मैं तुम्हें बताती हूँ।

विदूषक—(भयपूर्वक) तुम किससे बताने जा रही हो ? क्या देवी से ? मैंने कुछ भी नहीं कहा है।

मनोरमा—वसन्तक, शङ्का मत करो। जैसी आरण्यका के लिए अपने

प्रियवयस्यस्यावस्था त्वया वर्णिता, ततो द्विगुणतरा भर्तुरपि कृते मम प्रियसख्या अवस्था। तत्पश्य पश्य। (वसन्तअ, अलं संकाए। जादिसी आरण्णआए किदे अत्तणो पिअवअस्सस्स अवत्था तुए वण्णिदा, ततो दिउणदरा भट्टिणो वि किदे मह पिअसहीए अवत्था। ता पेक्ख पेक्ख) [उपसृत्यारण्यकां दर्शयति]

विदूषकः—(दृष्ट्वा सहर्षम्) **सफलो मे परिश्रमः। स्वस्ति भवत्यै।** (सफलो मे परिस्समो। सोत्थि होदिए)

(आरण्यका सलज्जं कमलिनीपत्राण्यपनीयोतिष्ठति।)

मनोरमा—**आर्य वसन्तक, तव दर्शनेनैवापगतः प्रियसख्याः संतापः, येन स्वयमेव नलिनीपत्राण्यपनयति। तदनुगृह्णात्वार्य इमानि।** (अज्ज वसन्तअ, तुह दंसणेण एव्व अवगदो पिअसहीए संदावो, जेण सयं एव्व णलिणीपत्ताइ अवणेदि। ता अणुगिण्हादु अज्जो इमाइ।

विदूषक इति। सफलो मे परिश्रमः—भवत्या अनुग्रहेणारण्यकादर्शनादिति भावः।

मनोरमेति। तव दर्शनेनैव—महाराजस्य प्रियवयस्यस्य भवतो दर्शनेनैव। प्रियसख्याः = आरण्यकायाः। सन्तापः = मदनज्वरः। अपगतः = अपसृतः। अनुगृह्णातु = स्वीकरोतु।

मित्र की दशा तुमने वर्णित की है, स्वामी के लिए मेरी प्रियसखी की दशा उससे भी दूनी है। तो देखो, देखो।

विदूषक—(देखकर, हर्ष से) मेरा परिश्रम सफल हो गया। तुम्हारा कल्याण हो।

(आरण्यका लज्जापूर्वक कमलिनीपत्रों को हटा कर खड़ी हो जाती है)

मनोरमा—आर्य वसन्तक, तुम्हारे दर्शन से ही प्रियसखी का सन्ताप जाता रहा, जिससे यह स्वयमेव कमलिनी के पत्तों को दूर कर रही है। अतः आप इन्हें ले लें।

आरण्यका—(सावेगम्) अयि परिहासशीले, कस्मान्मां लज्जयसि। (अइ परिहाससीले, कीस मं लजावेसि)

विदूषकः—(सविषादम्) तिष्ठन्तु तावन्नलिनीपत्राणि। अतिलज्जालुका ते प्रियसखी। तत्कथमेतयोः समागमो भविष्यति। (चिट्ठन्दु दाव णलिनीपत्ताइ। अदिलज्जालुआ दे पिअसही। ता कहं एदार्ण समाअमो हविस्सदि

मनोरमा (क्षणं विचिन्त्य सहर्षम्) **वसन्तक, एवमिव** । (वसन्तक एव्वं विअ) (कर्णे कथयति)

विदूषक—**साधु प्रियसखि साधु (अपवार्य) यावदेव युवां नेपथ्यग्रहणं कुरुथः, तावदेवाहमपि वयस्यं गृहीत्वागच्छामि।** (साहु पिअसहि साहु। जाव एव्व तुह्मे णेवच्छग्गहणं करेत्थ, दाव एव्व अहं वि वअस्सं गेण्हिअ आअच्छामि) (इति निष्क्रान्तः)

विदूषक इति। सविषादम् = विषादेन सहितं यथा स्यात्तथा। आरण्यकाया लज्जातिशय एव तस्य विषादहेतुः। तिष्ठन्तु तावन्नलिनीपत्राणि = आरण्यकादर्शनानन्तरं नास्ति नलिनीपत्रैः किमपि प्रयोजनं, शीघ्रमेव तथा विदधे यथा राजारण्यकयोः समागमो भवेदिति भावः। ते = तव, मनोरमाया इत्यर्थः। प्रियसखी = आरण्यका। अतिलज्जालुका = अतिलज्जाशीला।

अपवार्य = मनोरमामेव श्रावयित्वेत्यर्थः। नेपथ्यग्रहणम् = वासवदत्तावत्सराजयोर्वेशपरिग्रहम्।

आरण्यका—(विक्षोभ के साथ) अरी परिहासशीले, तुम मुझे क्यों लज्जित करती हो ?

विदूषक—(विषादपूर्वक) कमलिनी के पत्तों को रहने दो। तुम्हारी प्रियसखी वड़ी लज्जाशील हैं, तो कैसे इन दोनों का समागम होगा ?

मनोरमा—(थोड़ी देर सोचकर हर्ष से) वसन्तक, इस तरह से (कानों में कहती है)

विदूषक—ठीक है, प्रियसखी, ठीक है। (छिपाकर) जबतक तुम दोनों वेश-भूषा धारण करोगी तबतक मैं भी वयस्य को लेकर आ जाऊँगा। (जाता है)

मनोरमा—अतिकोपने, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। नर्तितव्यमस्माभिस्तस्यैव नाटकस्य नर्तितशेषम्। तदेहि। प्रेक्षागृहमेव गच्छावः। (परिक्रम्यावलोक्य) इदं प्रेक्षागारम्। यावदेहि प्रविशावः। (प्रविष्टकेनावलोक्य) साधु साधु। सर्वं सज्जीकृतम्। देव्यागन्तव्यम्। (अदिकोवणे, उट्ठेहि उट्ठेहि। णच्चिदव्वं अह्मेहिं तस्स एव्व णाडअस्स णच्चिदसेसं। ता एहि। पेक्खाघरं एव्व गच्छह्म। इदं पेक्खागारं। जाव एहि पविसह्म। साहु साहु। सव्वं सज्जीकिदं देवीए आअन्तव्वं)

(ततः प्रविशति देवी सांकृत्यायनी विभवतश्च परिवारः)

वासवदत्ता—भगवति, अहो ते कवित्वम्। येनैतद्गूढवृत्तान्तं नाटकोपनिबद्धं सानुभवमप्यस्माकमार्यपुत्रचरितमदृष्टपूर्वमिव दृश्यमानमधिकतरं

मनोरमेति। अतिकोपने = अतिकोपशीले। मनोरमाकृतवत्सराजसंगमोपाय एव कोपहेतुः। वस्तुतस्त्वारण्यकायाः कोपः कृत्रिम एवेति वेदितव्यम्। नर्तितव्यम् = अभिनेतव्यम्। तस्यैव = साङ्कृत्यायन्या कृतस्य। नर्तितशेषम्—नर्तितः = यावानंशोऽभिनीतः, ततः शेषम् = अवशिष्टम्। प्रेक्षागृहम् = नाट्यशालाम्। प्रविष्टकेन = रङ्गशालाद्वारेण।

तत इति। देवी = वासवदत्ता। सांकृत्यायनी—तन्नाम्नी वृद्धा साध्वी विदुषीमहिला, यया वासवदत्ताया वत्सराजस्य च परिणयवृत्तान्तो नाटकोपनिबद्धः, यस्यां च वासवदत्तायाः समादरभावनाऽऽसीत्। विभवतः = स्व-स्वपदानुसारेणेत्यर्थः। परिवारः = अनुचरवर्गः।

वासवदत्तेति। अहो ते कवित्वम्—तव (साङ्कृत्यायन्याः) काव्य-

मनोरमा—अरी अत्यन्त कुपित होने वाली, उठो, उठो। हम लोगों को उसी नाटक के शेषभाग का अभिनय करना है। तो आओ नाट्यशाला को ही चलें। (चलकर, देखकर) यह है नाट्यशाला, तो आओ भीतर चलें। ठीक है ठीक है। सब सजा-बजा दिया गया है। महारानी आ रही होंगी।

(तदनन्तर देवी, साङ्कृत्यायनी और विभवानुकूल परिजनों का प्रवेश)

वासवदत्ता—भगवति, तुम्हारा कवित्व आश्चर्यजनक है। क्योंकि गूढ-

कौतूहलं वर्धयति । (भअवदि, अहो दे कवित्तण । जेण एदं गूढउत्तन्तं णाडओ-वणिवद्धं साणुभवं वि अह्माणं अज्जउत्तावरिदं अदिट्ठपुव्वं विअ दीसयन्तं अहिअ-अरं कोदूहलं वड्ढअदि)

सांकृत्यायनी—आयुष्मति, आश्रयगुण एवायमीदृशः । यदसारमपि काव्यमवश्यमेव शृण्वतां श्रवणसुखमुत्पादयति । पश्य,

प्रायो यत्किञ्चिदपि प्राप्नोत्युत्कर्षमाश्रयान्महतः ।
मत्तेभकुम्भतटगतमेति हि शृङ्गारतां भस्म ॥ १ ॥

रचनासामर्थ्यमाश्चर्यकरम् । गूढवृत्तान्तम्—गूढः = गुप्तः, परैरज्ञातः इत्यर्थः, वृत्तान्तः = आख्यानं यस्य तादृशम् । एतत् = अभिनीयमानम् । सानुभवमपि = अनुभूतमपि । अदृष्टपूर्वमिव = नवमिव । कौतूहलम् = औत्सुक्यम् ।

साङ्कृत्यायनीति । आश्रयगुणः—आश्रयस्य = नायकस्येत्यर्थः, गुणः = कलापरत्वादिः । असारम् = विगुणम् । तदेवोक्तमर्थमुदाहरणेन समर्थयति प्राय इति । यत्किञ्चिदपि असारमपि वस्तु, महतः = गुणशीलस्य, आश्रयात् = सम्बन्धात्, प्रायः, उत्कर्षम् = उत्कृष्टतां प्राप्नोति । अत्र दृष्टान्तमाह–मत्तेभेति । भस्म, मत्तेभकुम्भतटगतम्—मत्तेभस्य = मत्तगजस्य कुम्भतटम् = मस्तकप्रदेशम्, गतम् = प्राप्तं सत्, हीति निश्चये । शृङ्गारताम् = गजमण्डनत्वम्, एति =

वृत्तान्तों वाला आर्यपुत्र का चरित यद्यपि अनुभव का विषय है तथापि आपके द्वारा नाटक के रूप में ऐसे कौशल से निवद्ध किया गया है कि अदृष्टपूर्व-सा दिखायी पड़ता हुआ हमारे कौतूहल को वढ़ा रहा है ।

सांकृत्यायनी—आयुष्मति, इसका इस प्रकार का गुण तो आश्रय (नायक राजा और नायिका देवी) के कारण है, जिससे निःसार काव्य भी सुनने वालों के कानों को अवश्य सुखोत्पादक होता है । देखो—

एक तुच्छ वस्तु भी महान् आश्रय प्राप्त करने पर उत्कर्ष को प्राप्त करती है । मतवाले गज के कुम्भस्थल को प्राप्त कर भस्म (भी) शृङ्गार (हाथी का मण्डन) कहा जाने लगता है ॥ १ ॥

वासवदत्ता—(सस्मितम्) भगवति, सर्वस्य वल्लभो जामाता भवतीति ज्ञायत एवैतत्। तत्किमेतेन कथानुबन्धेन। वरं तदेव नर्तितव्यं द्रष्टुम्। (भअवदि, सव्वस्स वल्लहो जामादा होदिति जाणीअदि एव्व एदं ता किं एदिणा कहाणुवन्धेण। वरं तं एव्व णच्चिदव्वं दट्ठुं)

सांकृत्यायनी—एवम्। इन्दीवरिके, प्रेक्षागृहमादेशय।

चेटी—एतु एतु भट्टिनी (एदु एदु भट्टिणी) (सर्वाः परिक्रामन्ति)

सांकृत्यायनी—(विलोक्य) अहो प्रेक्षणीयता प्रेक्षागृहस्य।

आभाति रत्नशतशोभिशातकुम्भ-
स्तम्भावसक्तपृथुमौक्तिकदामरम्यम्।

प्राप्नोति। सामान्यमपि वस्तु महतः सम्पर्कात् प्रकृष्टं जायते, यथा साधारणत्वेन प्रसिद्धं भस्मापि करिकुम्भाश्रयात् करिमण्डनपदवीं प्राप्नोतीति भावः। अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतसामान्यार्थस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। आर्या जातिः॥ १॥

वासवदत्तेति। ज्ञायत एवैतत्—जानन्ति सर्वेजना एतत्। जामाता सर्वस्य प्रियो भवति। तत्किमेतेन कथानुबन्धेन—त्वं मम मातृसमा, तस्माद्वत्सराजस्तव जामाता सिद्ध एव। जामातरि पक्षपातेन त्वं स्वरचितनाटकमहत्तायां तद्गुणगणस्य कारणत्वं मन्यसे, वस्तुतस्तु तत्र तव कवित्वमेवोत्कर्षहेतुरिति वासवदत्तोक्तेस्तात्पर्यम्।

सांकृत्यायनीति। प्रेक्षणीयता = शोभा। प्रेक्षागृहस्य = रङ्गशालायाः।

प्रेक्षागृहस्य शोभां वर्णयति—आभातीति। रत्नशतशोभितशातकुम्भस्तम्भावसक्तपृथुमौक्तिकदामरम्यम्—रत्नानां शतैः शोभिता ये शातकुम्भस्तम्भाः =

वासवदत्ता—(मुस्करा कर) भगवति, दामाद सब को प्रिय होता है—यह सब को मालूम ही है; अतः इस प्रकार की बात-चीत से क्या लाभ? यही अच्छा है कि हम नाटक ही देखें।

सांकृत्यायनी—ठीक है। इन्दीवरिके, नाट्यशाला का मार्ग बताओ।

चेटी—चलें, महारानी जी चलें। (सब चलती हैं)

सांकृत्यायनी—(देख कर) नाट्यशाला का सौन्दर्य अद्भुत है। सैकड़ों रत्नों से शोभित सुवर्णमय खम्भों में लटकी लम्बी मुक्तामालाओं

अध्यासितं युवतिभिर्विजिताप्सरोभिः
प्रेक्षागृहं सुरविमानसमानमेतत् ॥ २ ॥

मनोरमारण्यके--(उपसृत्य) जयतु जयतु भट्टिनी। (जेदु जेदु भट्टिणी)

वासवदत्ता—मनोरमे, अतिक्रान्ता खलु सन्ध्या तद्गच्छतम्। लघु गृह्णीतं नेपथ्यम्। (मणोरमे, अदिक्कन्दा क्खु संज्झा। ता गच्छह। लहु गेण्हह णेवच्छं)

उभे--यद्देव्याज्ञापयति। (जं देवी आणवेदि) (इति प्रस्थिते)

वासवदत्ता--आरण्यके, एतैरेव मदङ्गपिनद्धैराभरणैर्नेपथ्यभूमिं

स्वर्णनिर्मितस्तम्भाः, तेषु अवसक्तानि = लम्बमानानीत्यर्थः, यानि पृथूनि = अतिविस्तृतानि, मौक्तिकदामानि = मुक्तामालाः, तैः रम्यम् = सुन्दरम्, विजिताप्सरोभिः--विजिताः = स्वरूपेण तिरस्कृताः, अप्सरसः = देवाङ्गनाः याभिस्ताभिः युवतिभिः = रमणीभिः, अध्यासितम् = अधिष्ठितम्, एतत् प्रेक्षागृहम् = रङ्गशाला, सुरविमानसमानम् = देवयानसदृशम्, सुरविमानस्यापि तथाऽलंकृतत्वादप्सरोभिरध्यासितत्वाच्चेति भावः। आभाति = शोभते। उपमाऽलंकारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २ ॥

वासवदत्तेति। अतिक्रान्ता = व्यतीता। गृह्णीतं नेपथ्यम् = अभिनयोचितं वेशपरिग्रहं कुरु। लघु = शीघ्रम्।

वासवदत्ताऽऽरण्यकां निर्दिशति—आरण्यके ! मदङ्गपिनद्धैः—ममाङ्गेषु

से रमणीय और अपने सौन्दर्य से अप्सराओं को तिरस्कृत करने वाली रमणियों से अधिष्ठित यह प्रेक्षागृह सुर विमान के समान दिखायी देता है ॥ २ ॥

मनोरमा और आरण्यका--(समीप जाकर) जय हो, महारानी की जय हो।

वासवदत्ता--मनोरमे, सन्ध्या बीत गयी, तो तुम दोनों जाओ, शीघ्र वेष-भूषा ग्रहण करो।

दोनों--महारानी की जो आज्ञा। (जाती हैं)

वासवदत्ता--आरण्यके, इन्हीं मेरे अङ्गों पर धारण किये गये भूषणों से

गत्वात्मानं प्रसाधय। (आभरणान्यङ्गादवतार्यारण्यकायाः समर्पयति) **मनोरमे त्वमपि नलगिरिग्रहणपरितुष्टेन तातेनार्यपुत्राय दत्तान्याभरणानीन्दीवरिकासकाशाद्गृहीत्वा नेपथ्यभूमिं गत्वात्मानं मण्डय, येन सुसदृशी दृश्यसे महाराजस्य।** (आरण्णए, एदेहिं एव्व मदङ्गपिणद्धेहिं आभरणेहिं णेवच्छभूमिं गदुअ अप्पाणं पसाहेहि। मणोरमे, तुमं वि णलगिरिग्गहणपरितुट्ठेण तादेण अज्जउत्तस्स दिण्णाइ आभरणाइ इन्दीवरिआसआसादो गेण्हिअ णेवच्छभूमिअं गदुअ अप्पाणं मण्डेहि, जेण सुसदिसी दीससि महाराअस्स)

(मनोरमा इन्दीवरिकासकाशादाभरणानि गृहीत्वा सहारण्यकया निष्क्रान्ता)

इन्दीवरिका—इदमासनम्। उपविशतु भट्टिनी। (एदं आसणं। उपविसदु भट्टिणी)

वासवदत्ता—(आसनं निर्दिश्य) **उपविसतु भगवती।** (उपविसदु भअवदी)

धारितैः। एतैः = अवतार्य दीयमानैः, आभरणैः = भूषणैः, नेपथ्यभूमिं गत्वा = वेशपरिग्रहस्थानं गत्वा, प्रसाधय = मण्डितां कुरु।

मनोरमां च निर्दिशति—मनोरमे, नलगिरिग्रहणपरितुष्टेन—नलगिरिर्नाम महासेनस्य मत्तो गजः, तस्य ग्रहणेन परितुष्टः = प्रसन्नः, तेन। तातेन = महासेनेनेत्यर्थः। आर्यपुत्रस्य = वत्सराजस्येत्यर्थः। सुसदृशी = अनुरूपा।

नेपथ्यभूमि में जाकर अपने को सजा लो। (शरीर से गहने उतार कर आरण्यका को देती है) मनोरमे, तुम भी, नलगिरि के ग्रहण से प्रसन्न होकर पिता जी के द्वारा आर्यपुत्र के लिए दिये गये आभरणों को इन्दीवरिका से लेकर नेपथ्यभूमि में जाकर अपने को सजा लो जिससे महाराज के बिल्कुल समान दिखायी दो !

(आरण्यका के साथ मनोरमा इन्दीवरिका से आभरणों को लेकर जाती है)

इन्दीवरिका—यह आसन है। महारानी जी बैठें।

वासवदत्ता—(आसन की ओर निर्देश कर) भगवति, आप बैठें।

[उभे उपविशतः । ततः प्रविशति गृहीतनेपथ्यः कञ्चुकी]

कञ्चुकी—

अन्तःपुराणां विहितव्यवस्थः
पदे पदेऽहं स्खलितानि रक्षन् ।
जरातुरः संप्रति दण्डनीत्या
सर्वं नृपस्यानुकरोमि वृत्तम् ॥ ३ ॥

कञ्चुकी स्ववृद्धावस्थां वर्णयति अन्तःपुराणामित्यादिना—अन्तपुराणाम्= राज्ञीनां निवासगृहाणाम्, विहितव्यवस्थः --विहिता = कृता व्यवस्था येन सः । राजपक्षे--पुराणाम् नगराणाम्, अन्तः अभ्यन्तरे, विहिता व्यवस्था येन सः । दण्डनीत्या = दण्डः = यष्टिका, तस्य नीतिः = ग्रहणम्, तया । राजपक्षे-- दण्डः = दमनम्, तस्य नीत्या = उपायेन । पदे पदे = प्रतिपादविक्षेपे, राजपक्षे– स्थाने स्थाने । स्खलितानि = निरूपितस्थानादन्यत्र चरणपाताज्जातानि गति-स्खलितानि रक्षन्, राजपक्षे--राजपुरुषाणां प्रजानां चानिष्टाचरणानि निवार-यन् । सम्प्रति = विश्रामापेक्षिणि अस्मिन् वार्धक्ये, जरातुरः--जरा = वृद्धावस्था तया आतुरः = क्लेशितः अहम् नृपस्य सर्वं वृत्तम् = सर्वं व्यवहारम् अनुकरोमि । अहम् अन्तः पुराणां व्यवस्थां करोमि, राजापि पुराणाम् अन्तः (अभ्यन्तरे) व्यवस्थां करोति । अहं दण्डं गृहीत्वैव चलितुं शक्नोमि, राजापि दण्डाश्रयेणैव प्रजाः शास्ति । इत्थं वृद्धोऽहं नृपवदाचरामीति भावः । श्लिष्टो-पमालंकारः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३ ॥

(दोनों बैंठती हैं । तदनन्तर वेश धारण कर कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—अन्तः पुरों का प्रबन्ध करता हुआ, दण्डनीति (डंडे के सहारे) से स्खलितों (पैंरों की लड़खड़ाहट) को पग-पग पर बचाता हुआ, वृद्धावस्था से पीड़ित मैं इस समय राजा के सब व्यापार का अनुकरण कर रहा हूँ। (राजा भी पुरों के भीतर का प्रबन्ध करता है तथा दण्डनीति से पद -पद अर्थात् स्थान-स्थान में स्खलितों = अपराधों का निवारण करता है) ॥ ३ ॥

भोः आज्ञापितोऽस्मि विमानिताशेषशत्रुसैन्येन यथार्थनाम्ना महासेनेन—'समादिश्यतामन्तःपुरेषु। यथा श्वो वयमुदयनोत्सवमनुभवामः। अतो युष्माभिरुत्सवानुरूपवेषोज्ज्वलेन परिजनेन सह मन्मथोद्यानं गन्तव्यम्।' इति।

सांकृत्यायनी—(कञ्चुकिनं निर्दिश्य) राजपुत्रि, प्रवृत्ता प्रेक्षा। दृश्यताम्।

कञ्चुकी—तदेतदादेष्टव्यं परिजनेन सह गन्तव्यमिति। गृहीतनेपथ्येनेति नादेष्टव्यम्। कुतः—

आज्ञापितः = आदिष्टः। विमानिताशेषशत्रुसैन्येन – विमानितानि = विजितानि, अशेषाणाम् = समस्तानाम्, शत्रूणां सैन्यानि येन तेन। यथार्थनाम्ना = अन्वर्थाभिधानेन। महासेनेन = प्रद्योतनाम्नोज्जयिनीश्वरेण। अन्तःपुरेषु = अन्त पुरवर्त्तिषु स्त्रीजनेषु।

सांकृत्यायनीति। प्रवृत्ता प्रेक्षा = अभिनयः प्रारब्धः।

कञ्चुकीति। गृहीतनेपथ्येनेति नादेष्टव्यम् – देवीनां परिचारिकापरिजनस्याप्युत्सवसमयोपयुक्तवसनाभरणादिसज्जत्वात् परिजनसज्जाविषयक आदेशो नापेक्ष्यत इति भावः।

समस्त शत्रुसैन्य को परास्त करने वाले अतएव अपने नाम को अन्वर्थ करने वाले महासेन ने आज्ञा दी है—'अन्तःपुरवासिनियों को बता दिया जाय कि कल हम उदयनोत्सव करने जा रहे हैं, तुम सब उत्सव के अनुरूप वसनाभरणादि से सज-बज कर परिजनो के साथ मन्मथोद्यान में चलें।'

सांकृत्यायनी—(कञ्चुकी की ओर निर्देश कर) राजपुत्रि, अभिनय प्रारम्भ हो गया, देखिए।

कञ्चुकी—केवल इतना ही कहना है कि परिजन सहित चलें, वसनाभरणादि से सुसज्जित होकर चलें-ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि—

पादैर्नूपुरिभिर्नितम्बफलकैः शिञ्जानकाञ्चीगुणै-
र्हारापादितकान्तिभिः स्तनतटैः केयूरिभिर्बाहुभिः ।
कर्णैः कुण्डलिभिः करैः सवलयैः सस्वस्तिकैर्मूर्धजै-
र्देवीनां परिचारिकापरिजनोऽप्येतेषु संदृश्यते ॥ ४ ॥

न खलु किञ्चिदत्रापूर्वमनुष्ठेयम् । केवलं स्वाम्यादेश इति मत्वाहं समादिष्टः । तदाज्ञाशेषं राजपुत्र्यै निवेदयामि । (परिक्रम्यावलोक्य च)

तमेव परिजनवेशविन्यासं प्रतिपादयति पादैरित्यादिना – नूपुरिभिः – नूपुराणि सन्त्येषामिति नूपुरिणस्तैः, नूपुरयुक्तैरित्यर्थः, पादैः = चरणैः, शिञ्जानकाञ्चीगुणैः – शिञ्जानः = शब्दायमानः, काञ्चीगुणः = रशनादाम येषु तादृशैः नितम्बफलकैः = प्रशस्तनितम्बैः, हारापादितकान्तिभिः – हारैः = मुक्तामालाभिः, आपादिता = जनिता, संवर्धितेत्यर्थः, कान्तिः = श्रीर्येषां तादृशैः, स्तनतटैः = कुचस्थलैः, केयूरिभिः = अङ्गदसहितैः, बाहुभिः = भुजैः, कुण्डलिभिः = धृतकुण्डलैः, कर्णैः – श्रवणैः, सवलयैः = कङ्कणयुक्तैः, करैः=हस्तैः, सस्वस्तिकैः = स्वस्तिकाख्यभूषणयुक्तैः, मङ्गलद्रव्यविशेषसहितैर्वा, मूर्धजैः = केशैः (उपलक्षितः) देवीनाम् = राजपत्नीनाम्, परिचारिकापरिजनः - दासीजनः, अपि, एतेषु = अन्तःपुरेषु संदृश्यते । तस्मादुत्सवानुरूपवेषविन्यासार्थमादेशस्यावश्यकता नास्तीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

अपूर्वम् - अभिनवमित्यर्थः । अनुष्ठेयम् = कर्त्तव्यम् । वासवदत्ता = वासवदत्तावेषधारिण्यारण्यकेत्यर्थः । गन्धर्वशालाम् = प्रेक्षागृहम् ।

नूपुरयुक्त चरणों, शब्दायमान काञ्चीमाला से सुशोभित प्रशस्तनितम्बों, मुक्तामालाओं से शोभासम्पन्न कुचतटों, केयूरयुक्त बाहुओं, कुण्डलयुक्त कर्णों कङ्कणयुक्त करों तथा स्वस्तिक युक्त केशपाशों से सुसज्जित तो यहाँ देवियों की दासियाँ भी दीख पड़ रही हैं (फिर रानियों के विषय में क्या कहना ?) ॥ ४ ॥

यहाँ कुछ नया नहीं करना है । केवल स्वामी का आदेश है, ऐसा समझकर उसका पालन करने का मुझे आदेश हुआ है । तो आज्ञा का शेष भाग राजपुत्री से कह दूं । (चल कर और देख कर) यही तो वह वासवदत्ता

इयं सा वासवदत्ता वीणाहस्तया काञ्चनमालयानुगम्यमाना गन्धर्वशालां प्रविष्टा। यावदस्याः कथयामि। (परिक्रामति)

(ततः प्रविशति गृहीतवासवदत्तानेपथ्यासनस्थारण्यका वीणाहस्ता काञ्चनमाला च)

आरण्यका--हला काञ्चनमाले, कस्मात्पुनश्चिरयत्यद्यापि वीणाचार्यः।
(हला कञ्चणमाले, कीस उण चिरअदि अज्ज वि वीणाआरिओ)

काञ्चनमाला--भर्तृदारिके, दृष्टस्तेनैक उन्मत्तः। तस्य वचनं श्रुत्वा चित्रेण भावितोऽपहसंस्तिष्ठति। (भट्टिदारिए, दिट्ठो देण एक्को उम्मत्तो। तस्स वअणं सुणिअ चित्तेण भाविदो ओहसन्तो चिट्ठइ)

आरण्यका—(सहस्ततालं विहस्य) **हञ्जे, सुष्ट्वेतं पृच्छति। सदृशाः सदृशे रज्यन्त इति द्वावत्रोन्मत्तौ।** (हञ्जे, सुट्ठु एदं पुच्छदि। सरिसा सरिसे रज्जन्तिति दुवे एथ्थ उम्मत्ता)

काञ्चनमालेति। चित्रेण भावितः = आश्चर्ययुक्तः।

आरण्यकेति। सहस्ततालम् = हस्तौ प्रताड्येत्यर्थः। सदृशाः सदृशे रज्यन्ते—सर्वः स्वसदृशगुणवज्जनेषु स्निह्यतीति भावः।

(वासवदत्ता वेषधारिणी आरण्यका) प्रेक्षागृह में प्रवेश कर रही है जिसके पीछे-पीछे वीणा हाथ में लिये काञ्चनमाला चल रही है। तो इससे कह दूँ (चलता है)

(तदनन्तर वासवदत्ता का वेष धारण किये, आसन पर बैठी हुई (आरण्यका और वीणा हाथ में लिये काञ्चनमाला का प्रवेश)

आरण्यका—अरी काञ्चनमाले, फिर क्यों अब भी वीणाचार्य विलम्ब कर रहे हैं ?

काञ्चनमाला—भर्तृदारिके, उन्होंने एक पागल देखा। उसकी बात सुनकर वे आश्चर्य युक्त हो हँस रहे हैं।

आरण्यका—(ताली वजाती हुई हँस कर) अरी, वे इससे ठीक ही पूछते हैं। अपने समान जन से सबको स्नेहानुभूति होती है, दोनों पागल हैं।

सांकृत्यायनी--राजपुत्र्याः सदृशमाकारं पश्याम्यस्याः। तादृशेनाकारेणावश्यं त्वदीयां भूमिकां सम्भावयिष्यति।

कञ्चुकी--(उपसृत्य) राजपुत्रि, देवस्त्वामाज्ञापयति--'श्वोऽवश्यमस्माभिर्वीणां वादयन्ती श्रोतव्या। तत्त्वया नवतन्त्रीसज्जया घोषवत्या स्थेयम्।' इति।

आरण्यका—यद्येवं लघु वीणाचार्यं विसर्जय। (जइ एव्वं लहु वीणाआरिअं विसज्जेहि)

कञ्चुकी--एष वत्सराजं प्रेषयामि। (इति निष्क्रान्तः)

आरण्यका--काञ्चनमाले, उपनय मे घोषवतीम्; यावदस्यास्तन्त्रीः परीक्षे। (कञ्चणमाले, उवणेहि मे घोसवदीं; जाव से तन्तीओ परिक्खेमि)

सांकृत्यायनीति। सांकृत्यायनी वासवदत्तां प्रत्याह - राजपुत्र्याः = तव (वासवदत्तायाः) तादृशेन = वासवदत्तोचितेन। त्वदीयां भूमिकाम् = तव (वासवदत्तायाः) अभिनयम्। सम्भावयिष्यति = सम्पादयिष्यति।

कञ्चुकीति। कञ्चुकी वासवदत्तावेषधारिणीमारण्यकां प्रत्याह - राजपुत्रि, देवस्त्वामिति। देवः = राजा महासेनः। वीणां वादयन्ती (त्वं) श्रोतव्या - तव वीणावादनं श्रोतव्यमिति भावः। घोषवत्या - तन्नाम्न्या वीणया।

आरण्यकेति। वीणाचार्यम् = वत्सराजम्। विसर्जय = प्रेषय, अत्रेति शेषः।

सांकृत्यायनी—इसका आकार राजपुत्री के सदृश देख रही हूँ। वैसे आकार से यह अवश्य तुम्हारी भूमिका का सम्पादन करेगी।

कञ्चुकी--(समीप जाकर) राजपुत्रि, महाराज ने तुम्हें कहलवाया है—'कल तुम्हें वीणा बजाते अवश्य सुनेंगे अतः तुम घोषवती वीणा को नये तारों से सुसज्जित कर लेना।'

आरण्यका--यदि ऐसा है तो वीणाचार्य को शीघ्र भेजो।

कञ्चुकी--यह मैं वत्सराज को भेज रहा हूँ। (जाता है)

आरण्यका—काञ्चनमाले, मेरी घोषवती ले आओ, जब तक इसके

(काञ्चनमाला वीणामर्पयति । आरण्यकोत्सङ्गे वीणां कृत्वा सारयति)

(ततः प्रविशति गृहीतवत्सराजनेपथ्या मनोरमा)

मनोरमा—(स्वगतम्) **चिरयति खलु महाराजः। किं न कथितं वसन्तकेन। अथवा देव्या बिभेति। यदीदानीमागच्छेत्ततो रमणीयं भवेत्।** (चिरअदि क्खु महाराओ। किं ण कहिदं वसन्तएण। अहवा देवीए भाअदि। जइ दाणिं आअच्चे तदो रमणिज्जं हवे)

(ततः प्रविशति राजावगुण्ठितशरीरो विदूषकश्च)

राजा—

संतापं प्रथमं तथा न कुरुते शीतांशुरद्यैव मे
निःश्वासा ग्लपयन्त्यजस्रमधुनैवोष्णास्तथा नाधरम्।
संप्रत्येव मनो न शून्यमलसान्यङ्गानि नो पूर्ववद्-

मनोरमेति। चिरयति = विलम्बते। महाराजः = वत्सराजः।

राजा स्वावस्थितिमाह – **संतापमिति**। शीतांशुः = चन्द्रः, मे = मम, प्रथमम् = पूर्वं (यथा सन्तापमकरोत्) तथा अद्यैव न संतापं कुरुते। उष्णाः निःश्वासाः (पूर्वं यथा), अधुनैव तथा अजस्रम् = अनवरतम्, अधरम्, न ग्लपयन्ति = न शोषयन्ति। सम्प्रत्येव मनः न शून्यम्, अङ्गानि च पूर्ववत्, नो =

तारों का परीक्षण कर लूँ।

(काञ्चनमाला वीणा देती है। आरण्यका गोद में रखकर वीणा ठीक करती है)

(तदनन्तर वत्सराज का वेष धारण किये मनोरमा का प्रवेश)

मनोरमा—(मन ही मन) महराज विलम्ब कर रहे हैं। क्या वसन्तक ने कहा नहीं ? अथवा महारानी से डर रहे हैं। यदि इस समय आ जाते तो अच्छा होता।

(तदनन्तर राजा तथा शरीर ढाँके विदूषक का प्रवेश)

राजा—चन्द्रमा आज मुझे पहिले की तरह संताप नहीं दे रहा है, उष्ण निःश्वासें पहिले की तरह इस समय मेरे अधर को अनवरत म्लान नहीं कर रही हैं, सम्प्रति मेरा मन सूना नहीं लग रहा है और मेरे अङ्ग पहिले की तरह

दुःखं याति मनोरथेषु तनुतां संचिन्त्यमानेष्वपि ॥ ५ ॥

वयस्य, सत्यमेवोक्तं मनोरमया ? यथा--'एषा मम प्रियसखी देव्या महाराजस्य दर्शनपथादपि रक्ष्यते। तदयं समागमोपायः। अद्य रात्रावस्माभिरुदयनचरितं नाम नाटकं देव्याः पुरतो नर्तितव्यम्। तत्रारण्यका वासवदत्ता भविष्यति। अहमपि वत्सराजः। तच्चरितेनैव सर्वं शिक्षितव्यम्। तदागत्य स्वयमेव स्वां भूमिकां कुर्वाणः समागमोत्सवमनुभवतु' इति।

नैव, अलसानि = आलस्ययुक्तानि। तत्र कारणमाह = दुःखमिति। मनोरथेषु, संचिन्त्यमानेषु = मनसा सम्पद्यमानत्वेन चिन्त्यमानेष्वपि दुःखम् = तापः, तनुतां याति = क्षीयते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्ताम् ॥ ५ ॥

मम = मनोरमायाः। प्रियसखी = आरण्यका। देव्या = वासवदत्ताया। महाराजस्य = वत्सराजस्य। दर्शनपथादपि रक्ष्यते - तथा प्रयत्नः क्रियते यथाऽऽरण्यका महाराजस्य दृष्टिगोचरापि न भवेदिति भावः। तच्चरितेनैव — तस्य = वत्सराजस्य, चरितेन = कृतेन कर्मणैव। सर्वं शिक्षितव्यम् = सर्वं ज्ञातव्यम्। महाराजः स्वचरितं जानात्येव, तत्स स्वयमेव स्वभूमिकां कुर्याच्चेत्तर्हि नाटकं सर्वथा सफलं भवेद् देव्यप्येतद्रहस्यं न ज्ञातुं शक्नुयादिति तदुक्तेरभिप्रायः। समागमोत्सवम् = आरण्यकामिलनजनितसुखम्।

अलसाये नहीं लग रहे हैं मनोरथों का पूर्ण होना मन में सोचने पर भी दुःख कम हो जाता है ॥ ५ ॥

वयस्य, क्या मनोरमा ने सत्य ही कहा था कि यह मेरी प्रियसखी (आरण्यका) देवी द्वारा राजा के दृष्टिपथ से भी बचाकर रक्खी जाती है। अतः समागम का यही उपाय है। आज रात में हम सब उदयनचरित नामक नाटक देवी के सामने अभिनीत करने जा रही हैं। उसमें आरण्यका वासवदत्ता बनेगी। मैं भी वत्सराज बनूंगी। सब कुछ उनके चरित के अनुसार सीखना (अभिनय करना) होगा (अर्थात् राजा को अपना सब चरित मालूम होने के कारण अपना पार्ट विना निर्देशन के भी अदा करने में कोई कठिनाई नहीं

विदूषकः--यदि मां न प्रत्येषि, एषा मनोरमा तव वेषं धारयन्ती तिष्ठति। तदुपसृत्य स्वयमेव पृच्छ। (जइ मं ण पाच्चेसि, एसा मणोरमा तुह वेसं धारअन्ती चिट्ठइ। ता उवसप्पिअ सअं एव्व पुच्छ)

राजा—(मनोरमामुपसृत्य) **मनोरमे सत्यमिदम्! यद्वसन्तकोऽभिधत्ते।**

मनोरमा--भर्तः सत्यमेव। मण्डयैतैराभरणैरात्मानम्। (भट्टा, सच्चं एव्व। मण्डअ एदेहिं आभरणेहिं अप्पाणं)

(इत्याभरणान्यङ्गादवतार्य राज्ञे समर्पयति)

(राजा परिदधाति)

विदूषकः—एते खलु राजानो दास्याप्येवं नर्त्यन्ते। अहो कार्यस्य गुरुता। (एदे क्खु राआणो दासीए वि एव्वं णच्चाविअन्ति। अहो कज्जस्स गुरुअदा)

विदूषक इति। कार्यस्य = मनोरथानामवाप्तेरित्यर्थः। 'अहो' इत्याश्चर्यद्योतकमव्ययम्। गुरुता = महत्ता। आश्चर्यकरं कार्यस्य महत्त्वं येन राजानोऽपि दासीवचनमङ्गीकृत्य नर्तितुं विवशा भवन्तीति भावः।

होगी और इस तरह देवी को रहस्य का भी पता न चल सकेगा) अतः राजा आकर स्वयं ही अपनी भूमिका अदा करते हुए समागम का आनन्द उठालें।

विदूषक—यदि मुझ पर विश्वास नहीं करते हो, तो यह मनोरमा तुम्हारा वेप धारण किये वैठी है, उसके पास जाकर स्वयं पूछ लो।

राजा—(मनोरमा के पास जाकर) मनोरमे, क्या यह सच है जो वसन्तक कर रहा है?

मनोरमा—महाराज सच ही है। इन आभरणों से अपने को आप अलंकृत कर लें।

(यह कह कर आभरणों को शरीर से उतार कर राजा को देती है)

(राजा पहिनता है)

विदूषक—दासियाँ भी इन राजाओं को इस तरह नचाती हैं। कार्य का (भी) कैसा महत्त्व है!

राजा—(विहस्य) मूर्ख, नैष कालः परिहासस्य। निभृतेन चित्रशालां प्रविश्य मनोरमया सहास्मन्नृत्तं पश्यता त्वया स्थीयताम्।

(उभौ तथा कुरुतः)

आरण्यका—काञ्चनमाले, तिष्ठतु वीणा प्रक्ष्यामि तावत्किमपि। (काञ्चणमाले चिट्ठदु वीणा। पुच्छिस्सं दाव किं वि)

राजा—शृणोमि तावत्कतमोऽयमुद्देशो वर्त्तते। (इत्यवहितः शृणोति)

काञ्चनमाला—पृच्छतु भर्तृदारिका। (पुच्छदु भट्ठिदारिआ)

आरण्यका—सत्यमेव तातो मन्त्रयते एवम्! यथा—'यदि वीणां वादयन्नपहरति मां वत्सराजः अवश्यं बन्धनान्मुञ्चामि' इति। (सच्चं एव्व तादो मन्तेदि एव्वं? 'जह जइवीणं वादअन्तो अवहरेदि मं वच्छराओ, अवस्सं वन्धणादो मुञ्चेमि' त्ति)

राजेति। निभृतेन = तूष्णींभावेन। चित्रशालाम् = रङ्गशालाम्। अस्मन्नृत्ताम् = मया क्रियमाणमभिनयम्।

उद्देशः = प्रसङ्गः।

आरण्यकेति। तातः = पिता, महासेन इत्यर्थः। अपहरति = वशीकरोति,इति वासवदत्तावेषधारिण्या आरण्यकाया अभिप्रायः। वत्सराजस्त्वपहरतीत्यस्यापहृत्यनयतीत्यभिप्रायमवगच्छतीति ज्ञेयम्।

राजा—(हंसकर) मूर्ख, यह परिहास का समय नहीं है। चुपचाप प्रेक्षागृह में जाकर मनोरमा के साथ हमारा अभिनय देखते रहो।

(दोनों वैसा करते हैं)

आरण्यका—काञ्चनमाले, वीणा तब तक रहने दो, मैं तुमसे कुछ पूछूँगी।

राजा—जरा सुनूँ, यह कौन सा प्रसङ्ग है।

काञ्चनमाला—पूछें भर्तृदारिका।

आरण्यका—क्या सचमुच पिता जी ऐसा कहते हैं कि यदि वीणा बजाते हुए वत्सराज मुझे अपहृत (वशीभूत) कर लें तो उन्हें अवश्य बन्धन से मुक्त कर दूँ।

६ प्रिय०

राजा—(प्रविश्य पटाक्षेपेण सहर्षं वस्त्रान्ते ग्रथितं वध्नाति) **एवमेतत्। कः सन्देहः।**

सपरिजनं प्रद्योतं विस्मयमुपनीय वादयन्वीणाम्।
वासवदत्तामपहरामि नचिरादेव पश्याम्यहम्॥ ६॥

यतः सुसंविहितं सर्वं यौगन्धरायणेन।

वासवदत्ता--(सहसोत्थाय)**जयतु जयत्वार्यपुत्रः।** (जेदु जेदु अज्जउत्तो)

राजा—(स्वगतम्) **कथं प्रत्यभिज्ञातोऽस्मि देव्या।**

सपरिजनमिति। अहम् = वत्सराजः, वीणां वादयन् मुग्धकारिणा वीणावादनेनेत्यर्थः। सपरिजनम् = अनुचरवर्गसहितम्, प्रद्योतम् = वासवदत्तायाः पितरम्, विस्मयम् = आश्चर्यम्, उपनीय = प्रापय्य। वासवदत्ताम्, न चिरादेव = शीघ्रमेव, अपहरामि = अपहृत्य नेष्यामीत्यर्थः, वर्तमानसामीप्ये लट्। (इति) पश्यामि = मन्ये। अत्र पूर्वार्धस्यार्याजातिलक्षणानुसारित्वेऽप्युत्तरार्धस्य तल्लक्षणानुसारित्वमिति सुधीभिरवगन्तव्यम्॥ ६॥

सुसंविहितम् = अपहरणकार्यस्य निर्विघ्नं सम्पत्तये सम्यक् प्रबन्धः कृत इत्यर्थः। यौगन्धरायणेन – यौगन्धरायणो वत्सराजस्य प्रधानामात्यस्तेन।

राजेति। प्रत्यभिज्ञातः = परिचितः। अहं स्वयमेव वत्सराजस्य भूमिकां करोमि, न तु मनोरमेति देव्या ज्ञातमिति भावः।

राजा—(पर्दा हटाकर प्रवेश कर सहर्ष दुपट्टे की छोर में गाँठ बाँधता है) यह ठीक है, (इसमें) क्या सन्देह ?

वीणा वजाते हुए, अनुचर वर्ग सहित प्रद्योत को आश्चर्यचकित कर, मैं समझ रहा हूँ, शीघ्र ही वासवदत्ता का अपहरण कर रहा हूँ॥ ६॥

क्योंकि यौगन्धरायण ने (अपहरण कार्य को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए) सम्यक् प्रबन्ध कर लिया है।

वासवदत्ता—(सहसा उठ कर) जय हो, आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—(मन ही मन) क्या, देवी के द्वारा मैं पहिचान लिया गया ?

साङ्कृत्यायनी—(सस्मितम्) **राजपुत्रि, अलमलं सम्भ्रमेण। प्रेक्षणीयकमेतत्।**

राजा—(आत्मगतम् सहर्षम्) **इदानीमुच्छ्वासितोऽस्मि।**

वासवदत्ता—(सविलक्षस्मितमुपविश्य) **कथं मनोरमैषा। मया पुनर्ज्ञातमार्यपुत्र एष इति। साधु मनोरमे साधु। शोभनं नर्तितम्।** (कहं मणोरमा एसा। मए उण जाणिदं अज्जउत्तो एसोत्ति। साहु मणोरमे साहु। सोहणं णच्चिदं)

साङ्कृत्यायनी—राजपुत्रि, स्थान एव कृता भ्रान्तिस्ते मनोरमया। पश्य—रूपं तन्नयनोत्सवास्पदमिदं वेषः स एवोज्ज्वलः

साङ्कृत्यायनीति। प्रेक्षणीयकम् = अभिनयः। वत्सराजभूमिकां कुर्वाणा मनोरमा हीयम्, तां वत्सराजं मत्वा सम्भ्रमेण कथमुत्तिष्ठसीति तदुक्तेरभिप्रायः।

राजेति। उच्छ्वासितः = धैर्यं प्रापितः। सांकृत्यायन्या देव्याः कोपादहं रक्षित इति भावः।

साङ्कृत्यायनीति। स्थाने = युक्तम्। मनोरमया स्वकौशलेन ते यद् भ्रान्तिः कृता तद्युक्तमेव।

तदेवाभिनयकौशलं प्रशंसति **रूपमित्यादिना** – इदम् = दृश्यमानम्, नयनोत्सवास्पदम् = नेत्रानन्दकरम्, रूपम् = गृहीतवत्सराजनेपथ्याया मनोरमाया

सांकृत्यायनी—(मुस्कराहट के साथ) राजपुत्रि, घबराओ मत, यह अभिनय हो रहा है।

राजा—(मन ही मन सहर्ष) अब जिला लिया गया।

वासवदत्ता—(लज्जा तथा स्मित के साथ, बैठकर) क्या यह मनोरमा है? मैंने तो समझा कि ये आर्यपुत्र हैं। वाह मनोरमा, वाह! बहुत अच्छा अभिनय किया।

सांकृत्यायनी—राजपुत्रि, मनोरमा ने (अपने कौशल से) तुम्हें जो भ्रम में डाल दिया वह ठीक ही है। देखो—

वही नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाला यह रूप, वही उज्ज्वल वेष, मत्त

सा मत्तद्विरदोचिता गतिरियं तत्सत्त्वमत्यूर्जितम् ।
लीला सैव स एव सान्द्रजलदह्लादानुकारी स्वरः
साक्षाद्दर्शित एष नः कुशलया वत्सेश एवानया ॥ ७ ॥

वासवदत्ता—हञ्जे इन्दीवरिके, बद्धेनार्यपुत्रेणाहं वीणां शिक्षिता। तदस्य कुरु नीलोत्पलदाम्ना निगलनम् । (हञ्जे इन्दीवरिए, वद्धेण अज्जउत्तेण अहं वीणं सिक्खाविदा । ता से करेहि णीलुप्पलदामएण णिअलणम्)

(शिरसोऽपनीय नीलोत्पलदामार्पयति)

(इन्दीवरिका तथा कृत्वा पुनस्तत्रैवोपविशति)

रूपम्, तदेव = वत्सराजस्यैवेत्यर्थः । उज्ज्वलः वेषः स एव । इयम्, मत्ताद्विरदोचिता = मत्तागजसदृशी गतिः सैव = वत्सराजस्यैवेत्यर्थः । अत्यूर्जितम् = अतिमहत्, सत्त्वम् = पौरुषम्, तदेव । लीला = विलासः, सैव । सान्द्रजलदह्लादानुकारी – सान्द्रः = संहतः, यः जलदः = मेघः, तस्य ह्लादः = ध्वनिः, तमनुकरोतीति तथोक्तः, संहतमेघध्वनिसदृशः, स्वरः = कण्ठध्वनिः, स एव । (तदेवम्) कुशलया = चतुर्विधायामवस्थानुकृतौ निपुणया, अनया = मनोरमया, एषः साक्षाद् वत्सेशः = उदयन एव, नः = अस्माकम्. दर्शितः । अत्र भेदेऽप्यभेदरूपातिशयोक्तिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्ताम् ॥ ७ ॥

वासवदत्तेति । वद्धेन = निगडितचरणेन । आर्यपुत्रेण = वत्सराजेन । अस्य = मनोरमा रूपस्य वत्सराजस्येत्यर्थः । नीलोत्पलदाम्ना = नीलकमलमालया । निगलनम् = वन्धनम् ।

गजराज की-सी वही यह चाल, वही अतिमहत् पौरुष, वही विलास, वही घनघोर मेघ की-सी कण्ठध्वनि है । इस कुशल मनोरमा ने हम सब को साक्षात् वत्सराज का ही दर्शन करा दिया ॥ ७ ॥

वासवदत्ता—सखी इन्दीवरिके, आर्यपुत्र ने वन्धन में रहकर मुझे वीणा सिखायी थी, इसलिये नीलकमल की माला से इसके पैर वाँध दे ।

(शिर से उतार कर नीलकमल की माला देती है)

(इन्दीवरिका वैसा करके पुनः अपनी जगह पर वैठ जाती है)

आरण्यका—काञ्चनमाले, कथय कथय। ननु सत्यमेव मन्त्रयते तातः ? 'यदि वीणां वादयन्नपहरति मां वत्सराजस्ततोऽवश्यं बन्धनान्मुञ्चामि' इति। (कञ्चणमाले, कधेहि कधेहि। णं सच्चं जेव्व मन्तेदि तादो ? 'जइ वीणं वादअन्तो अवहरेदि मं वच्छराओ तदो अवस्सं बन्धणादो मुञ्चेमि त्ति)

काञ्चनमाला—भर्तृदारिके, सत्यम्। तथा कुरु, यथा वत्सराजस्यावश्यं बहुमता भवसि। (भट्टिदारिए सच्चं। तधा करेहि, जधा वच्छराअस्स अवस्सं बहुमदा होसि)

राजा—निष्पादितमेव काञ्चनमालया यत्तदास्माभिरभिलषितम्।

आरण्यका—यद्येवं तदादरेण वादयिष्यामि। (जइ एव्वं ता आदरेण वादइस्सं) (गायन्ती वादयति)

घनबन्धनसंरुद्धं गगनं दृष्ट्वा मानसमेतुम्।

आरण्यकेति। आदरेण = मनोयोगपूर्वकम्।

घनबन्धनसंरुद्धमिति। घनबन्धनसंरुद्धम् – घनानां बन्धनेन संरुद्धम् = मेघपटलेन व्याप्तम्, गगनम् = आकाशम्, दृष्ट्वा राजहंसः = मरालः, आत्मनः दयितां = प्रियाम्, गृहीत्वा, तया सहेत्यर्थः, मानसम् = तदाख्यं सरः एव वसतिम् = आवासभूमिम्, एतुम् - गन्तुम्, अभिलषति = वाञ्छति। गगनम् = गगनसदृशं कारागारमित्यर्थः, घनबन्धनसंरुद्धम् = निविडशृङ्खलानिरुद्धं दृष्ट्वा,

---

आरण्यका—काञ्चनमाले, कहो कहो, क्या सचमुच ही पिताजी कहते हैं कि यदि वीणा बजाते हुए वत्सराज मुझे अपहृत कर लें तो उन्हें अवश्य बन्धनमुक्त कर दूँ।

काञ्चनमाला—भर्तृदारिके, बिल्कुल सत्य है। वैसा करो जिससे वत्सराज की तुम अवश्य परमप्रिया हो जाओ।

राजा—जो उस समय हमारा अभीष्ट था उसे काञ्चनमाला ने निष्पन्न ही कर दिया।

आरण्यका—यदि ऐसा है तो पूरे मनोयोग से बजाऊँगी। (गाती हुई बजाती है)

मेघपटल से व्याप्त आकाश को देख कर मराल अपनी प्रिया को लेकर

अभिलषति राजहंसो दयितां गृहीत्वात्मनो वसतिम् ॥ ८ ॥
(घणवन्धणसंरुद्धं गअण दट्ठूण माणसं एउं ।
अहिलसइ राअहंसो दइअं घेऊण अप्पण वसइं ॥ ८ ॥)

(विदूषको निद्रां नाटयति)

मनोरमा—(हस्तेन चालयन्ती) वसन्तक, पश्य पश्य । प्रियसखी मे नृत्यति । (वसन्तअ, पेक्ख पेक्ख पिअसही मे णच्चइ ।)

विदूषकः—(सरोषम्) दास्याः सुते, त्वमपि न ददासि स्वप्तुम् । यदाप्रभृति प्रियवयस्येनारण्यका दृष्टा तदाप्रभृति तेन सह मया रात्रिदिवं निद्रा न दृष्टा । तदन्यतो निष्क्रम्य स्वप्स्यामि । (दासिए सुदे, तुमं वि देसि सुविदुं । जहप्पहुदि पिअवअस्सेण आरण्णआ दिट्ठा, तहप्पहुदि तेण सह मए रत्तिदिवं णिद्दा ण दिट्ठा । ता अण्णदो णिक्कमिअ सुविस्सं) (निष्क्रम्य शेते)

(आरण्यका पुनर्गायति)

दयिताम् = प्रियां वासवदत्तामित्यर्थः, गृहीत्वा = अपहृत्येत्यर्थः, मानसम् = तदीयं मनः, एतुम् = प्राप्तुं वशीकर्तुमित्यर्थः, आत्मनो वसतिम् = आवासभूमिम्, कौशाम्बीम् अभिलषति, इति प्रस्तुतोऽर्थो गम्यते । अत्राप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा – 'अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते .... । अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद् ॥ ८ ॥

अपने वासस्थान मानसरोवर को जाना चाहता है ॥ ८ ॥

(विदूषक सो जाने का अभिनय करता है)

मनोरमा—(हाथ से झकझोरती हुई) वसन्तक, देखो देखो, मेरी प्रियसखी अभिनय कर रही है ।

विदूषक—(रोष पूर्वक) अरी दासी की छोकरी, तू भी सोने नहीं देती । जब से प्रियवयस्य ने आरण्यका को देखा तभी से उनके साथ मुझे भी नींद नहीं आयी । अतः दूसरी जगह जाकर सोऊँगा ।

(आरण्यका पुनः गाती है)

अभिनवरागक्षिप्ता मधुकरिका वामकेन कामेन।
उत्ताम्यति प्रार्थयमाना द्रष्टुं प्रियदर्शनं दयितम् ॥ ९ ॥
(अहिणवराअक्खित्ता महुअरिआ वामएण कामेण।
उत्तम्मइ पत्थन्ती दट्ठुं पिअदंसणं दइअं ॥ ९ ॥)

राजा—(तत्क्षणं श्रुत्वा सहसोपसृत्य) साधु राजपुत्रि साधु। अहो गीतमहो वा दित्रम्। तथा हि—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धाधुना

अभिनवरागक्षिप्तेति। वामकेन = कुटिलेन, दुर्लभजनविषयेऽनुरागमुत्पाद्य सन्तापप्रदेनेत्यर्थः। कामेन = मनोजेन, अभिनवरागक्षिप्ता – अभिनवे = सर्वथा नूतने, रागे = प्रेम्णि, क्षिप्ता = पातिता, मधुकरिका = भ्रमरी, प्रियदर्शनम् = मनोज्ञम्, दयितम् = प्रियम्, द्रष्टुं, प्रार्थयमाना = अभिलषन्ती, उत्ताम्यति = तमनवाप्यपर्याकुला भवति। अत्राप्रस्तुतमधुकरिकावृत्तान्तेन प्रस्तुतनायिकावृत्तान्तप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः ॥ ९ ॥

राजेति। वादित्रम् = वाद्यम्।

वत्सराजो वासवदत्ताया गीतवाद्यविषयकं नैपुण्यं प्रदर्शयति-व्यक्तिरित्यादिना – अधुना, अत्र = अस्मिन् गीते, दशविधेनापि व्यञ्जनधातुना व्यक्तिर्लब्धा = समग्रा दशविधा वीणावादनरीतिः विशदं प्रकटीकृता। अत्रेदमवधेयम् – धातुर्वाद्यवादनविधिः। स चतुर्विधः – विस्तारः, करणः, आविद्धः व्यञ्जनश्चेति। 'विस्तारः करणश्चैव, ह्याविद्धो व्यञ्जनस्तथा। चत्वारो धातवो ज्ञेया वादित्रकरणाश्रयाः ॥' तेषु चतुर्ष्वपि व्यञ्जयति विशेषानिति व्यञ्जनो नाम धातुर्दशविधः – कलं तलं निष्कोटितम् उन्मृष्टं रेफः अवमृष्टं पुष्पं विन्दुः–

कुटिल कामदेव के द्वारा सर्वथा नूतन प्रेम में डाली गयी भ्रमरी मनोज्ञ प्रिय के दर्शन की अभिलाषा करती हुई (उसे न पाकर) पर्याकुल हो रही है ॥ ९ ॥

राजा—(तत्क्षण सुनकर, सहसा समीप जाकर) बहुत खूब, राजपुत्रि बहुत खूब। अहा! कैसा अच्छा गाना और कैसा बजाना है।

इसी गीत में दसों प्रकार का व्यञ्जनधातु (वीणा वादन कौशल) व्यक्त

विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधायं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि संपादिता-
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक्त्रयो दर्शिताः ॥१०॥

आरण्यका—(वीणां परिष्वज्यासनादुत्थाय राजनं साभिलाषं पश्यन्ती) उपाध्याय, प्रणमामि । (उवज्झाअ, पणमामि)

अनुबन्धश्चेति । ज्ञानविशेषाय द्रष्टव्यो भरतमुनिकृतनाट्यशास्त्रस्यैकोनत्रिंशोऽध्यायः । द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नः— द्रुतः, मध्यः लम्बितः = विलम्बितश्चेति तैः परिछिन्नः । त्रिधा = त्रिभिः प्रकारैरित्यर्थः । अयं लयः = तालान्तरालवर्ती कालः । विस्पष्टः = विशेषेण स्पष्टीकृतः । 'तालान्तरालवर्ती यः कालो लय उच्यते । त्रिविधः स च विज्ञेयो द्रुतो मध्यो विलम्बितः ॥' इति । गोपुच्छप्रमुखाः – गोपुच्छा प्रमुखा यासां ताः, (समा स्रोतोवहा गोपुच्छा चेति) तिस्रोऽपि यतयः क्रमेण सम्पादिताः । तालानां विरामो यतिः, सा त्रिधा । यथा—'तालच्छन्दोविरतिविषये वाद्यते यो विरामः । वाद्यैर्हीनः श्रवणसुभगो नामतः सा यतिः स्यात् ॥ समा स्रोतोवहा चैव गोपुच्छा चेति सा त्रिधा'। इति । तत्वौघानुगताः = तन्नामानस्त्रयः, वाद्यविधयश्च सम्यक् दर्शिताः । वाद्यविधयो यथा—'त्रिविधं वैणवं वाद्यं कर्त्तव्यं गीतसंश्रयं तज्ज्ञैः । तत्त्वं तथानुगतमोघश्चानेककरणसंयुक्तम् ॥' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १० ॥

आरण्यकेति । उपाध्याय—उपेत्याधीयते, अस्मादित्युपाध्यायस्तत्सम्बुद्धौ ।

किया गया है । द्रुत, मध्य और विलम्बित ये तीनों लय, विशेष रूप से स्पष्ट हैं । समा, स्रोतोवहा और गोपुच्छा ये तीनों प्रकार की यतियाँ ठीक-ठीक सम्पादित हैं और तत्त्व, ओघ एवम् अनुगत ये तीनों प्रकार की वाद्य-विधियाँ दर्शायी गयी हैं ॥ १० ॥

आरण्यका—(वीणा को हृदय से लगाये, उठ कर राजा को साभिलाष देखती हुई) उपाध्याय, प्रणाम करती हूँ ।

राजा—(सस्मितम्) यदहमिच्छामि तत्ते भूयात्।

काञ्चनमाला—(आरण्यकाया आसनं निर्दिश्य) इहैवोपविशतु उपाध्यायः। (इह एव्व उपविसदु उवज्झाओ)

राजा—(उपविश्य) राजपुत्री क्वेदानीमुपविशतु।

काञ्चनमाला—(सस्मितम्) इदानीमेव भर्तृदारिका विद्यामानेन परितोषिता युष्माभिः। तदर्हत्येवैषोपाध्यायपीठिकायाम्। (दाणिं एव्व भट्टिदारिआ विज्जामाणेण परितोसिदा तुह्महिं। ता अरुहदि एव्व एसा उवज्झाअपीठिआए)

राजा—उपविशत्वर्हेयमर्धासनस्य। राजपुत्रि, स्थीयताम्।

[आरण्यका काञ्चनमालां पश्यति]

काञ्चनमाला—(सस्मितम्) भर्तृदारिके उपविश। कोऽत्र दोषः। शिष्यविशेषा खलु त्वम्। (भट्टिदारिए, उवविस। को एत्थ दोसो। सिस्स-

---

काञ्चनमालेति। भर्तृदारिका = राजपुत्री वासवदत्ता। विद्यामानेन = गानविद्यानैपुण्यप्रशंसयेत्यर्थः। परितोषिता = समादृतेत्यर्थः। उपाध्यायपीठिकायाम् = उपाध्यायासने।

राजेति। अर्हा योग्या।

काञ्चनमालेति। शिष्यविशेषा = सर्वथा श्रेष्ठा शिष्या।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) जो मैं चाहता हूँ, वह तुम्हें प्राप्त हो।

काञ्चनमाला—(आरण्यका के आसन की ओर निर्देश कर) उपाध्याय यहीं बैठें।

राजा—(बैठ कर) राजपुत्री अब कहाँ बैठे ?

काञ्चनमाला—(मुस्कराहट के साथ) अभी-अभी आपने उसकी गानविद्या के कौशल की प्रशंसा कर राजकुमारी का समादर किया है, अतः यह उपाध्याय के आसन पर बैठने योग्य है ही।

राजा—बैठें, यह अर्धासन के योग्य हैं। राजपुत्रि, बैठो।

(आरण्यका काञ्चनमाला को देखती है)

काञ्चनमाला—(मुस्कराहट के साथ) राजकुमारी, बैठो। इसमें दोष

विसेसा क्खु तुमम्) (आरण्यका सलज्जमुपविशति)

वासवदत्ता—(सलज्जम्) भगवत्यधिकं कल्पितं काव्यम् । न खल्वहं तस्मिन्काले एकासने आर्यपुत्रेण सहोपस्थिता । (भअवदीए अहिअं कप्पिदं कव्वम् । ण ह अहं तस्सिं काले एक्कासणे अज्जउत्तेण सह उवट्ठिदा)

राजा—राजपुत्रि, पुनः श्रोतुमिच्छामि । वादय वीणाम् ।

आरण्यका—(सस्मितम्) काञ्चनमाले, चिरं खलु मम वादयन्त्याः परिश्रमो जातः । इदानीं निःसहान्यङ्गानि । तत् न शक्नोमि वादयितुम् । (कञ्चणमाले, चिरं खु मम वादअन्तीए परिस्समो जादो । दाणिं णिस्सहाइ अङ्गाइ । ता ण सक्कुणोमि वादइदुं)

काञ्चनमाला—उपाध्याय, सुष्ठु परिश्रान्ता भर्तृदारिका । कपोलतल-बद्धस्वेदलवायाः पश्यास्या वेपते अग्रहस्तौ । तत्समाश्वस्ता भवतु मुहूर्तम् । (उवज्झाअ, सुट्ठु परिस्सन्ता भट्टिदारिआ । कवोलतलबद्धसेअलवाए

वासवदत्तेति । भगवत्या = साङ्कृत्यायन्या । अधिकं कल्पितं काव्यम् – अल्पमपि वस्तुतत्त्वं स्वकल्पनाभिर्विस्तारितमित्यर्थः ।

काञ्चनमालेति । कपोलतलबद्धस्वेदलवायाः—कपोलतले = गण्डस्थले बद्धाः = प्रसृताः, स्वेदलवाः = श्रमजलबिन्दवो यस्यास्तादृश्याः । अग्रहस्तौ = हस्तयोरग्रभागौ । वेपेते = कम्पेते । समाश्वस्ता = विश्रान्त्या प्रकृतिस्था ।

क्या है ? तुम इनकी विशेष शिष्या हो । (आरण्यका लज्जा के साथ बैठ जाती है)

वासवदत्ता—(लज्जा के साथ) भगवती ने काव्य को अधिक कल्पित कर दिया है । मैं उस समय आर्यपुत्र के साथ एक आसन पर नहीं बैठी थी ।

राजा—राजपुत्रि, पुनः सुनना चाहता हूँ । बजाइए वीणा ।

आरण्यका—(मुस्कराहट के साथ) काञ्चनमाले, बड़ी देर तक बजाते रहने से बड़ी थकान आ गयी है । अब अङ्ग अशक्त हो रहे हैं । इसलिए बजा नहीं सकूँगी ।

काञ्चनमाला—उपाध्याय, राजकुमारी बहुत थक चुकी हैं । देखिए इनके कपोलों पर पसीने की बूँदे छा गयी हैं और हाथ काँप रहे हैं । अतः

पेक्ख से वेवन्ति अग्गहत्था । ता समस्सत्ता होदु मुहुत्तअं ।)

राजा—कांचनमाले, युक्तमभिहितम् । (हस्तेन ग्रहीतुमिच्छति । आरण्यका हस्तमपसारयति ।)

वासवदत्ता—(सासूयम्) भगवति, अधिकमेतदपि त्वया कृतम् । न खल्वहं कांचनमालाकाव्येन वंचयितव्या । (भअवदि, अहिअं एदं वि तुए किदं । ण हु अहं कञ्चणमालाकव्वेण वञ्चइदव्वा)

सांकृत्यायनी—(विहस्य) आयुष्मति, ईदृशमेव काव्यं भविष्यति ।

आरण्यका—(सरोषमिव) अपेहि कांचनमाले अपेहि । न मे बहुमतासि । (अवेहि कञ्चणमाले अवेहि । ण मे वहुमदासि)

कांचनमाला—(सस्मितम्) यद्यहं तिष्ठन्ती न बहुमता तदेषा गच्छामि । (जइ अहं चिट्ठन्ती ण वहुमदा ता एसा गच्छम्मि) (इति निष्क्रान्ता)

आरण्यका—(ससंभ्रमम्) कांचनमाले, तिष्ठ तिष्ठ । अयमस्याग्र-

मुहूर्तम् = क्षणम् ।

थोड़ी देर विश्राम कर लें ।

राजा—काञ्चनमाले, तुमने ठीक कहा । (हाथ से पकड़ना चाहता है, आरण्यका हाथ खींच लेती है)

वासवदत्ता—(असूयापूर्वक) भगवति, यह भी आपने अधिक जोड़ दिया । मुझे काञ्चनमाला के नाटकीय संवाद से धोखा न दिया जाय ।

सांकृत्यायनी—(हँस कर) आयुष्मति, काव्य तो इसी तरह का होगा ।

आरण्यका—(रोष-सा कर) काञ्चनमाले, दूर हटो, दूर हटो । तुम मुझे प्रिय नहीं लगती हो ।

काञ्चनमाला—(मुस्कराहट के साथ) यदि मेरा रहना अच्छा नहीं लगता है तो यह मैं जाती हूँ ।

आरण्यका—(घवड़ाहट के साथ) काञ्चनमाले, ठहरो ठहरो । यह मेरा हाथ इन्हें समर्पित है ।

हस्तः समर्पितः। (कञ्चणमाले, चिट्ठ चिट्ठ। अअ से अग्गहत्थो समप्पिदो)

राजा—(आरण्यकाया हस्तं गृहीत्वा)

सद्योऽवश्यायबिन्दुव्यतिकरशिशिरः किं भवेत्पद्मकोशो
ह्लादित्वं नास्य मन्ये सदृशमिदमुषस्येव वीतातपस्य।
मुञ्चन्त्येते हिमौघं नखरजनिकराः पञ्च किं सोऽपि दाही
ज्ञातं स्वेदापदेशादविरतममृतं स्यन्दते व्यक्तमेतत् ॥ १॥

सद्य इति। (मया गृहीत आरण्याकाया अयं हस्तः) सद्यः = तत्कालम्, अवश्यायविन्दुव्यतिकरशिशिरः—(स्वेदलवयुक्तत्वेन) अवश्यायविन्दूनाम् = हिमकणानाम्, व्यतिकरेण = सम्पर्केण शिशिरः = शीतलः। पद्मकोशः=कमलकुड्मलः, भवेत् = स्यात् किम्? वीतातपस्य = आतपरहितस्य, अस्य = पद्मकोशस्य, इदम् = अनुभूयमानम्, ह्लादित्वम् = आनन्दप्रदत्वम्, उषस्येव = प्रातःकाल एव (अत एव) न सदृशम् = योग्यम् मन्ये। कमलस्य प्रातरेव नीहारकणयुक्ततयाऽऽनन्दप्रदत्वान्न तादृशसंभावनेति भावः। एते = दृश्यमानाः, पञ्च नखरजनिकराः—नखा एव रजनिकराः = चन्द्राः, हिमौघम् = हिमसन्दोहम्, मुञ्चन्ति = च्यावयन्ति, किम्? नैतदपि संभवतीत्याह – सोऽपीति। सोऽपि = हिमौघोऽपि, दाही = दहनशीलः, कमलं दहतीति भावः। न हि तादृक् प्रभावोऽस्याः करकमले परिलक्ष्यते तस्मान्नखचन्द्रा हिमौघं मुञ्चन्तीति कथनमप्ययुक्तमित्यभिप्रायः। तत्किमेतदित्यत्र परमार्थमाह – ज्ञातमिति। ज्ञातम् = अवगतम्, स्वेदापदेशात् = स्वेदव्याजात्, अमृतम्, अविरतम् = सततम्, स्यन्दते

राजा—(आरण्यका का हाथ पकड़ कर)

(मेरे द्वारा पकड़ा हुआ आरण्यका का यह हाथ) क्या (स्वेदलवयुक्त होने से) तत्क्षण हिमकणों के सम्पर्क से शीतल कमलकुड्मल है? किन्तु इस (पद्म कोश) की यह आह्लादकता तो प्रातः ही होती है जबकि यह सम्प्रति सूर्य के प्रकाश से उन्मुक्त है, (अतः इस समय) ऐसी सम्भावना युक्त नहीं है। क्या ये नखरूप पाँच चन्द्रमा हिम-वृष्टि कर रहे हैं? परन्तु हिम भी तो कमल के लिए दाहक होता है (जबकि इसके कर कमल पर ऐसा प्रभाव परि-

अपि च ।

एतेन बालविद्रुमपल्लवशोभापहारदक्षेण ।
हृदये मम त्वयायं न्यस्तो रागः स्वहस्तेन ॥ १२ ॥

आरण्यका—(स्पर्शविशेषं नाटयन्ती, आत्मगतम्) हा धिक् हा धिक् । एतां मनोरमां स्पृशन्त्या अनर्थमेव मेऽङ्गानि कुर्वन्ति । (हद्धि हद्धि एदं मणोरमं परिसन्तीए अणत्थ एव्व मे अङ्गाइ करेन्ति)

=स्रवति । एतत् व्यक्तम् = स्पष्टमेव । नात्र काचिद् विप्रतिपत्तिरिति भावः । सन्देहापह्नुतिसङ्कीर्णोत्प्रेक्षा । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ११ ॥

एतेनेति । एतेन = मया स्पृश्यमानेन, बालविद्रुमपल्लवशोभापहारदक्षेण—बालः = अभिनवः, कोमल इति यावत्, यो विद्रुमपल्लवः = प्रवालकिसलयः, तस्य शोभाया अपहारे = अपहरणे, दक्षेण = कुशलेन, अत्यन्तं बालविद्रुमपल्लवसदृशेनेत्यर्थः । स्वहस्तेन त्वया = आरण्यकया, मम हृदये, अयम् = अनुभूयमानः, रागः = रक्तिमा अनुरागश्च न्यस्तः = स्थापितः जनित इति यावत् ।

'बालविद्रुमपल्लवशोभापहारदक्षेण' इत्यत्रोपमा तथा चास्य पदार्थस्य, हृदये हस्तेन रागन्यासरूपार्थनिष्पादकहेतुत्वेनोपन्यासात्काव्यलिङ्गम् । द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन संवलनात् सङ्करः । आर्या जातिः ॥ १२ ॥

आरण्यकेति । अनर्थमेव = अनिष्टमेव । मनोरमास्पर्शेनाङ्गानां दुःसहमनोविकाराभिभूतत्वमेवानर्थहेतुः, स्त्रीस्पर्शेन स्त्रिया मनोविकृतेरप्राकृतिकत्वात् । वत्सराजस्यानभिज्ञानादारण्यकायास्तथोक्तिः ।

लक्षित नहीं हो रहा है) । समझ गया—स्वेद के व्याज से यह स्पष्ट अमृत ही अनवरत बह रहा है ॥ ११ ॥

और—

तुमने, बालप्रवाल किसलय की शोभा के अपहरण में कुशल इस हाथ से मेरे हृदय में यह राग (१. प्रेम, २. रक्तिमा) उत्पन्न कर दिया ॥ १२ ॥

आरण्यका—(स्पर्श विशेष का अभिनय करती हुई, मन ही मन) छिः ! छिः ! इस मनोरमा के स्पर्श से मेरे अङ्ग (दुःसहमनोविकाराभिभूत होकर) मुझ पर अनर्थ कर रहे हैं ।

वासवदत्ता—(सहसोत्थाय) भगवति, पश्य त्वम् । अहं पुनरलीकं न पारयामि प्रेक्षितुम् । (भअवदि, पेक्ख तुमं । अहं उण अलिअं ण पारेमि पेक्खिदुं)

सांकृत्यायनी—राजपुत्रि, धर्मशास्त्रविहित एष गान्धर्वो विवाहः । किमत्र लज्जास्थानम् । प्रेक्षणीयकमिदम् । तन्नयुक्तमस्थाने रसभङ्गं कृत्वा गन्तुम् ।

(वासवदत्ता परिक्रामति)

इन्दीवरिका—(विलोक्य) भट्टिनि वसन्तकश्चित्रशालाद्वारे प्रसुप्तस्तिष्ठति । (भट्टिणि, वसन्तओ चित्तसालादुवारे पसुतो चिट्ठइ)

वासवदत्ता—(निरूप्य) वसन्तक एवैषः । (विचिन्त्य) राज्ञाप्यत्र

वासवदत्तेति । अलीकम् = अयथार्थम्, कल्पितमात्रम् । तदानीं यच्छालीनताविरुद्धं मत्वा न मयाऽऽचरितं तस्यापि मां लज्जयितुमेव त्वया निबन्धनं कृतम् । कल्पितमात्रं तदयथार्थं द्रष्टुमहं न शक्नोमि । स्वां कृतिं त्वमेव स्वयं पश्येति वासवदत्तोक्तेरभिप्रायः ।

सांकृत्यायनीति । गान्धर्वः = विवाहभेदविशेषः । तदुक्तं 'क्षत्रियस्य तु गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते' इति । अत्र मनुः—'इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च । गान्धर्वः सतु विज्ञेयः·········॥' इति । प्रेक्षणीयकम्

वासवदत्ता—(सहसा उठकर) भगवति, आप देखें, मैं तो मिथ्या दृश्य देख नहीं सकती हूँ ।

सांकृत्यायनी—राजपुत्रि, यह गान्धर्व विवाह धर्मशास्त्रानुमोदित है, इसमें लज्जा की क्या बात है ? यह तो नाटकीय प्रदर्शन है, अतः बीच में ही रसभङ्ग करके तुम्हारा जाना युक्त नहीं है ।

(वासवदत्ता जाती है)

इन्दीवरिका—(देखकर) महारानी, वसन्तक चित्रशाला के द्वार पर सोया हुआ है ।

वासवदत्ता—(भली भाँति देख कर) यह वसन्तक ही है (सोचकर)

भवितव्यम् । तद्बोधयित्वा प्रक्ष्यामि तावदेनम् । (वसन्तओ एव्व एसो । रण्णा वि एत्थ होदव्वं । ता वोधाविअ पुच्छिस्सं दाव णं) (प्रबोधयति)

विदूषकः—(निद्राजडमुत्थाय सहसा विलोक्य) मनोरमे, किं नर्तित्वा गतः प्रियवयस्यः । अथवा नृत्यत्येव । (मणोरमे, किं णच्चिअ आअदो पिअवअस्सो । अह वा णच्चदि एव)

वासवदत्ता—(सविषादम्) कथमार्यपुत्रो नृत्यति । मनोरमेदानीं कुत्र । (कहं अज्जउत्तो णच्चदि । मनोरमा दाणिं कहिं)

विदूषकः—एषा चित्रशालायां तिष्ठति । (एसा चित्तसालाए चिट्ठइ)

मनोरमा—(सभयमात्मगतम्) कथमन्यथैव हृदये कृत्वा देव्या मन्त्रितम् । एतेनापि मूर्खवटुकेनान्यथैव बुद्ध्वा सर्वमाकुलीकृतम् । (कहं अण्णहा एव्व हिअए करिअ देवीए मन्तिदं । एदेण वि मुक्खवडुएण अण्णहा एव्व बुद्धिअ सव्वं आउलीकिदं ।)

=नाटकीयप्रदर्शनम् ! अस्थाने = अनुचिते काले । रसभङ्गम् = रसव्यवच्छेदम ।

मनोरमेति । अन्यथैव हृदये कृत्वा—मनोरमयैव स्वस्थानेऽभिनयार्थं वत्सराज अनुज्ञातो भवेदित्याशङ्क्येति भावः । मन्त्रितम् = पृष्टमित्यर्थः । मूर्खवटुकेन = मूर्खश्चासौ वटुकस्तेन । वटुक इत्यत्र कुत्सायां कन् । वासवदत्ताया अभिप्रायमविदित्वा विदूषकेण यन्न वक्तव्यं तदेवोक्त्वा स्वमूर्खत्वं प्रकटीकृतम् । आकुलीकृतम् = विनाशितम् ।

राजा भी यहीं होंगे । तो इसे जगा कर पूछूँगी । (जगाती है)

विदूषक—(नींद से जड बना हुआ, उठ कर, सहसा देख कर) क्या हमारे प्रियवयस्य अभिनय करके आ गये, या अभी अभिनय ही कर रहे हैं ?

वासवदत्ता—(विषाद के साथ) क्या आर्यपुत्र अभिनय कर रहे हैं ? इस समय मनोरमा कहाँ है ?

विदूषक—वह चित्रशाला में है ।

मनोरमा—(भय के साथ, मन ही मन) क्यों, देवी ने हृदय में कुछ

वासवदत्ता—(सरोषं हसन्ती) साधु मनोरमे साधु । शोभनं त्वया नर्तितम् । (साहु मणोरमे साहु । सोहणं तुये णच्चिदं)

मनोरमा—(सभयं कम्पमाना पादयोर्निपत्य) भट्टिनि, न खल्वहमत्रापराध्यामि । एतेन खलु हताशेन बलादलङ्करणानि गृहीत्वा द्वारस्थितेनेह निरुद्धा । न पुनर्ममाक्रन्दन्त्याः शब्दो मूर्खनिर्घोषान्तरितः केनापि श्रुतः । (भट्टिणि, ण हु अहं एत्थ अवरज्झामि । एदेण खु हदासेण वलादो अलङ्करणाइ गेण्हिअ दुवारट्ठिदेण इह णिरुद्धा । ण उण मह अक्कन्दन्दीए सद्दो मुक्खणिग्घोसन्तरिदो केण वि सुदो)

वासवदत्ता—हञ्जे उत्तिष्ठ । ज्ञातं सर्वम् । वसन्तकः खल्वारण्यकावृत्तान्तनाटके सूत्रधारः । (हञ्जे उट्ठेहि । जाणिदं सव्वं । वसन्तओ क्खु आरण्णआवुत्तन्तणाडए सुत्तधारो)

वासवदत्तेति । शोभनं नर्तितम्—सर्वं रहस्यं ज्ञात्वा रोषं गताया वासवदत्ताया व्यङ्ग्योक्तिरियम् ।

मनोरमेति । मूर्खनिर्घोषान्तरितः—मूर्खः = वसन्तक इत्यर्थः, तस्य निर्घोषे = शब्दे, अन्तरितः = प्रच्छन्नः ।

वासवदत्तेति । आरण्यकावृत्तान्तनाटके सूत्रधारः—आरण्यकाया, वृत्तान्तः = वत्सराजेन समागम इत्यर्थः, स एव नाटकम्, तस्मिन् सूत्रधारः = व्यवस्थापक इत्यर्थः ।

दूसरा भाव रख कर पूछा और इस मूर्ख वटुक ने कुछ दूसरा ही भाव समझकर सब विगाड़ दिया ।

वासवदत्त—(रोष पूर्वक हँसती हुई) ठीक है, मनोरमे ठीक है । तुमने खूब अभिनय किया ।

मनोरमा—(सभय काँपती हुई, पैरों पर गिर कर) महारानी, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है । इस पाजी ने दरवाजे पर खड़ा होकर जबर्दस्ती गहनों को छीन कर मुझे यहाँ रोक लिया । मैं चिल्लाती रही किन्तु मेरी आवाज इस मूर्ख के शब्द में दब गयी और किसी ने सुना नहीं ।

वासवदत्ता—सखी, उठो सब मालूम हो गया । वसन्तक ही आरण्यकावृत्तान्त नाटक का सूत्रधार है ।

विदूषकः—स्वयमेव चिन्तय, कुत्रारण्यका कुत्र वसन्तक इति। (सअ एव्व चिन्तेहि, कहिं आरण्णआ कहिं वसन्तओत्ति)

वासवदत्ता—मनोरमे, सुगृहीतं कृत्वैनमागच्छ। यावत्प्रेक्षणीयमस्य पश्यामि। (मणोरमे, सुगहीदं करिअ ण आअच्छ। जाव पेक्खणीअ से पेक्खह्मि)

मनोरमा—(स्वगतम्) इदानीं समाश्वस्तास्मि। (विदूषकं करे बध्नाति। प्रकाशम्) हताश, इदानीमनुभवात्मनो दुर्नयस्य फलम्। (दाणिं समास्सत्तह्मि। हदास, दाणिं अणुभव अत्तणो दुण्णअस्स फलं।)

विदूषक इति। कुत्रारण्यका—सदा भवत्याः समीपवर्त्तिनी सेविकाऽऽरण्यका कुत्र, कुत्र वसन्तकः = दीनोब्राह्मणोऽहं वसन्तकः कुत्र, द्वयोर्महदन्तरमिति भावः। कथमेतत् संभवति यदारण्यकामुपेत्य तां तथाकर्तुं प्रोत्साहयामीति वसन्तकोक्तेरभिप्रायः।

वासवदत्तेति। सुगृहीतम् = सुबद्धम्। यावदित्यवधारणे। अस्य = मूर्खवटुकस्य वसन्तकस्य। प्रेक्षणीयं पश्यामि—राजानमुपगम्य सर्वं रहस्यं तस्य पुरत उद्घाटयेमं दण्डयामीति भावः।

मनोरमेति। मनोरमा प्रत्युपन्नमतित्वेन विदूषकं देवीकोपभाजनं कृत्वाऽऽत्मानमपराधशून्यां च विज्ञाप्य सन्तोषमनुभवन्त्याह—इदानीमिति। समाश्वस्तास्मि—देव्याः कोपानलादुद्धृताऽहं पुनरुज्जीवनं गतेति भावः। हताश = अधम। इदानीम् = अधुना। आत्मनो दुर्नयस्य फलमनुभव असमीक्ष्यकारी त्वं देव्याः पुरतः स्ववचनेन रहस्यमुद्घाटितवान्, स्वस्य तदसमीक्ष्यकारित्वस्य फलं भुङ्क्ष्व।

विदूषक—स्वयं ही आप सोचें, कहाँ आरण्यका और कहाँ वसन्तक?

वासवदत्ता—मनोरमे, इसे अच्छी तरह पकड़े हुए आओ, तब इसका तमाशा देखती हूँ।

मनोरमा—(मन ही मन) अब राहत मिली। (विदूषक का हाथ बाँधती है। प्रकट रूप से) अभागे, अब अपनी दोषपूर्ण नीति का फल भोगो।

७ प्रिय०

वासवदत्ता—(ससंभ्रममुपसृत्य) आर्यपुत्र, प्रतिहतमेतदमङ्गलम्। (इति पादयोर्नीलकमलदामापनयन्ती सोत्प्रासम्) मर्षत्वार्यपुत्रो यन्मनोरमेति कृत्वा नीलोत्पलदामकेन बन्धितोऽसि। (अज्जउत्त, पडिहदं एदं अमङ्गलं। मरिसदु अज्जउत्तो जं मणोरमेत्ति करिअ नीलुप्पलदामएण बन्धाविदोसि)

(आरण्यका सभयमपसृत्य तिष्ठति)

राजा—(सहसोत्थाय विदूषकं मनोरमां च दृष्ट्वात्मगतम्) कथं विज्ञातोऽस्मि देव्या। (वैलक्ष्यं नाटयति)

सांकृत्यायनी—(सर्वानवलोक्य सस्मितम्) कथमन्यदेवेदं प्रेक्षणीयकं संवृत्तम्। अभूमिरयमस्मद्विधानाम्। (इति निष्क्रान्ता)

वासवदत्तेति। अमङ्गलम्—नीलोत्पलदामकृतबन्धनरूपम् अशुभम्। सोत्प्रासम् = उपहासपूर्वकम् मर्षतु = क्षमताम्।

राजेति। विज्ञातः = प्रत्यभिज्ञातः। वैलक्ष्यम् = लज्जाम्।

सांकृत्यायनीति। अभूमिः = न स्थातुं योग्यं स्थानम्।

वासवदत्ता—(शीघ्रता से समीप जाकर) आर्यपुत्र, यह अमङ्गल विनष्ट हो। (ऐसा कहकर चरणों की नीलकमलमाला को हटाती हुई, व्यंग्यपूर्वक) आर्यपुत्र, मनोरमा समझ कर आपको नीलकमलमाला से बाँध दिया था, इसे आप क्षमा करें।

(आरण्यका सभय दूर हट कर खड़ी होती है)

राजा—(सहसा उठ कर विदूषक और मनोरमा को देख कर, मन ही मन) क्यों, देवी ने मुझे पहिचान लिया क्या? (लज्जा का अभिनय करता है)

सांकृत्यायनी—(सब को देख कर, मुस्कराहट के साथ) क्यों, यह एक दूसरा ही अभिनय हो गया। हमारे जैसे जन के लिए यहाँ ठहरना उचित नहीं। (जाती है)

राजा—(स्वगतम्) अपूर्वोऽयं कोपप्रकारः । दुर्लभमत्रानुनयं पश्यामि । (विचिन्त्य) एवं तावत्करिष्ये । (प्रकाशम्) देवि त्यज्यतां कोपः ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, कोऽत्र कुपितः (अज्जउत्त, को एत्थ कुविदो)

राजा—कथं न कुपितासि ।

स्निग्धं यद्यपि वीक्षितं नयनयोस्ताम्रा तथापि द्युति-
र्माधुर्येऽपि सति स्खलत्यनुपदं ते गद्गदा वागियम् ।
निःश्वासा नियता अपि स्तनभरोत्कम्पेन संलक्षिताः
कोपस्ते प्रकटप्रयत्नविधृतोऽप्येष स्फुटं लक्ष्यते ॥ १३ ॥

राजा वासवदत्तायाः कोपलक्षणानि व्यनक्ति स्निग्धमित्यादिना—यद्यपि वीक्षितम् = ईक्षणम् (भावे क्तः) स्निग्धम् = स्नेहनिर्भरम्, तथापि नयनयोः = नेत्रयोः; द्युतिः = कान्तिः, ताम्रा = रक्तवर्णा (कोपादिति भावः) । माधुर्ये सत्यपि, ते = तव, इयं वाक्, गद्गदा = अस्पष्टध्वनियुक्ता, अनुपदम्=पदे पदे, स्खलति = प्रत्येकपदोच्चारणे निरुद्धा प्रवर्तते । निःश्वासाः, नियताः = प्रयत्नेन निरुद्धाः, अपि, स्तनभरोत्कम्पेन = स्तनयोर्मुहुर्मुहुश्चलनेन, संलक्षिताः = स्फुटं दृष्टाः, (एवम्) एषः, ते = तव, कोपः, प्रकटप्रयत्नविधृतः अपि प्रकटेन = स्फुटेन, प्रयत्नेन, विधृतः = अन्तर्निगूढः अपि, स्फुटम् = स्पष्टम्, लक्ष्यते = ज्ञायते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १३ ॥

राजा—(मन ही मन) यह कोपप्रकार अपूर्व है । इसमें अनुनय की गुंजाइश नहीं देख रहा हूँ । (सोच कर) तब तक ऐसा करूँगा । (प्रकट रूप में) देवि, कोप छोड़िए ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यहाँ कुपित कौन है ?

राजा—कैसे नहीं कुपित हो ?

स्नेहपूर्णभाव से तुम यद्यपि देख रहो हो तथापि नेत्रों की कान्ति (कोप से) रक्ताभ है । माधुर्य युक्त होनेपर भी तुम्हारी यह वाणी गद्गद है और प्रत्येक पद के उच्चारण में रुक-रुक कर प्रवृत्त होती है । प्रयत्न से नियन्त्रित होने पर भी निःश्वास स्तनभार के उत्कम्प से स्पष्ट परिलक्षित हैं । (इस प्रकार)

(पादयोर्निपत्य) प्रिये, प्रसीद प्रसीद ।

वासवदत्ता—आरण्यके, त्वं कुपितेति संभावयन्नार्यपुत्रः 'प्रिये, प्रसीद, इति प्रसादयति । तदुपसर्प । (आरण्यए, तुम कुविदत्ति सम्भावअन्तो अज्जउत्तो पिए पसीदत्ति पसादअदि । ता उवसप्प)

(इति हस्तेनाकर्षति)

आरण्यका—(सभयम्) भट्टिनी, न खल्वहं किमपि जानामि । (भट्ठिणि ण हु अहं किंवि जाणामि)

वासवदत्ता—आरण्यके, त्वं कथं जानासि । इदानीं ते शिक्षयामि । इन्दीवरिके, गृहाणैनाम् । (आरण्णए, तुम कह जाणासि । दाणिं दे सिक्खावेमि । इण्दीवरिए, गेण्ह णं)

विदूषकः—भवति अद्य कौमुदीमहोत्सवे तव चित्तमपहर्तुं वयस्येन

वासवदत्तेति । सम्भावयन् = उत्प्रेक्षमाणः । आर्यपुत्रः = वत्सराजः । वत्सराजे 'प्रिये प्रसीद प्रसीद' इति पादयोर्निपत्य वासवदत्तां प्रसादयति सति सा त्वीर्ष्याकषायिताऽऽरण्यकां तथा निर्भर्त्सयन्ती ईर्ष्याभावं प्रकाशितवतीति बोध्यम् ।

विदूषक इति । तव चित्तमपहर्तुम् = तव विनोदार्थम्, न त्वारण्यका-

---

स्फुट प्रयत्न से भीतर छिपाये जाने पर भी तुम्हारा यह कोप स्पष्ट जाहिर हो रहा है ॥ १३ ॥

(चरणों पर गिर कर) प्रिये, प्रसन्न हो जाओ ।

वासवदत्ता—आरण्यके, तुझे कुपित समझ कर आर्यपुत्र 'प्रिये प्रसीद' इन शब्दोंसे मना रहे हैं । अतः उनके समीप जा । (ऐसा कह कर हाथ से खींचती है)

आरण्यका—(सभय) महारानी, मैं कुछ भी नहीं जानती हूँ ।

वासवदत्ता—आरण्यके, तू कैसे जानेगी ? अभी , तुझे सिखाती हूँ । इन्दीवरिके, पकड़ो इसे ।

विदूषक—महारानी, आज कौमुदीमहोत्सव के अवसर पर तुम्हारे चित्त

प्रेक्षणीयमनुष्ठितम्। (होदि, अज्ज कोमुदीमहूसवे तुह चित्तं अवहरिदुं वअस्सेण पेक्खणीअं अणुट्ठिदं)

वासवदत्ता—एतं युष्माकं दुर्नयं प्रेक्ष्य हासो मे जायते। (एदं तुह्माणं दुण्णअं पेक्खिअ हासो मे जाआदि)

राजा—देवि, अलमन्यथा विकल्पितेन। पश्य—

भ्रूभङ्गः क्रियते ललाटशशिनः कस्मात्कलङ्को मुधा
वाताकम्पितबन्धुजीवसमतां नीतोऽधरः किं स्फुरन्।

संगार्थमिति भावः। प्रेक्षणीयम् = अभिनयः। एवं निरपराधे नृपे मयि वा तव कोपो न युज्यत इति विदूषकोक्तेराशयः।

वासवदत्तेति। दुर्नयम् = दुराचरणम्। त्वं (विदूषकः), मनोरमा च, राजा चापराद्धाःस्थ तथापि निजापराधगोपनाय वृथा प्रयासमाचरथेति प्रेक्ष्य मे हासो जायत इति वासवदत्तोक्तेरभिप्रायः।

राजेति। अलमन्यथा विकल्पितेन = आरण्यकाऽऽसक्तोऽहं तत्सङ्गसुखप्राप्त्यर्थं तदभ्युपायं कृतवानिति सन्देहो न कार्य इत्यर्थः।

राजा वासवदत्तां प्रसादयितुमाह—भ्रूभङ्ग इति। कस्मात् = केन हेतुना, ललाटशशिनः ललाटरूपचन्द्रस्य, भ्रूभङ्गैः = कोपजन्यभ्रूविकारैः, मुधा = अकारणमिति यावत्, कलङ्कः क्रियते = ललाटरूपचन्द्रो मालिन्ययुक्तः क्रियते, कस्मादकारणं कलङ्केन चन्द्रमिव कोपजन्यभ्रूविकारैः स्वललाटं मलिनीकरोषीत्यर्थः। स्फुरन् = स्पन्दमानः, कोपादिति भावः, अधरः, किम् = किमर्थम्, वाताकम्पितबन्धुजीवसमताम्—वातेन = पवनेन, आकम्पितं यद् बन्धुजीवपुष्पं

को प्रसन्न करने के लिए महराज ने यह अभिनय किया है।

वासवदत्ता—तुम लोगों के इस दुराचरण को देख कर मुझे हंसी आती है।

राजा—देवि, दूसरे प्रकार की वात मत सोचिए। देखो—

क्यों बेकार कलङ्क से चन्द्रमा की तरह कोपजन्य भ्रूविकारों से अपने ललाट को मलिन कर रही हो? (क्रोध से) फड़कता अधर, वायु से कम्पमान

मध्यश्चाधिककम्पितस्तनभरेणायं पुनः खिद्यते
कोपं मुञ्च तवैव चित्तहरणायैतन्मया क्रीडितम् ॥ १४ ॥

देवि, प्रसीद प्रसीद । (इति पादयोः पतति)

वासवदत्ता—हञ्जे, निर्वृत्तं प्रेक्षणकम् । तदेहि । अभ्यन्तरमेव प्रविशावः । (हञ्जे, णिव्वुत्तं पेक्खणअं । ता एहि । अब्भन्तरं एव्व पविसह्म)

(इति निष्क्रान्ता)

इति गर्भनाटकम् ।

तस्य समताम् = तुलनाम्, नीतः प्रापितः, कोपात् स्फुरन्नधरः, पवनकम्पितवन्धूकपुष्पशोभां दधातीति भावः (कस्मात्) पुनः, अयं मध्यः = कटिप्रदेशः, अधिककम्पितस्तनभरेण—अधिकं कम्पितौ यौ स्तनौ तयोः भरेण खिद्यते = खेदं प्राप्यते । घनपीनपयोधरेण खिद्यमानस्य कटिप्रदेशस्य तदधिककम्पनेन खेदः सातिशयं वर्धत इति भावः । (तस्मात्) कोपं, मुञ्च = परिहर । (यतः) मया = वत्सराजेन, तव = वासवदत्तायाः, चित्तहरणायैव = मनोविनोदायैव, एतत् क्रीडितम् = इदं क्रीडनं कृतम्, नास्त्यस्मिन् अन्या काप्यभिसन्धिरिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४ ॥

वन्धुजीवपुष्प की समता को क्यों प्राप्त कराया जा रहा है ? यह कटिप्रदेश अधिक कम्पमान स्तनभार से क्यों खिन्न किया जा रहा है ? (अतः) कोप का परित्याग करो । तुम्हारे मनोविनोदार्थ ही मैंने यह खेल किया है ॥ १४ ॥

देवि, प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ । (ऐसा कहता हुआ चरणों पर गिरता है)

वासवदत्ता— सखी, अभिनय समाप्त हो गया । अतः आओ अन्दर ही चलें ।

(जाती है)

राजा—(विलोक्य) कथमकृत्वैव प्रसादं गता देवी।

स्वेदाम्भःकणभिन्नभीषणतरभ्रूभङ्गमेकं रुषा
त्रासेनापरमुत्प्लुतोत्प्लुतमृगव्यालोलनेत्रोत्पलम्।
उत्पश्यन्नहमग्रतो मुखमिदं देव्याः प्रियायास्तथा
भीतश्चोत्सुकमानसश्च महति क्षिप्तोऽस्म्यहं संकटे ॥ १५ ॥

वत्सराजः स्वसङ्कटापन्नस्थितिं प्रतिपादयन्नाह-स्वेदाम्भ इति। एकम् = देवीवासवदत्तामुखमिति भावः। रुषा = क्रोधेन, स्वेदाम्भःकणभिन्नभीषणतरभ्रूभङ्गम्—स्वेदाम्भःकणैः = कोपजनितप्रस्वेदजलबिन्दुभिः, भिन्नम् = मिलितम्, तच्च भीषणतरः = अतिशयेन भीषणः भ्रूभङ्गः = भ्रूकुटिः यत्र तादृक् च। अपरम् = अन्यत्, प्रियदर्शिकामुखमिति भावः। त्रासेन = देवीकोपजनितेन भयेन, उत्प्लुतोत्प्लुतमृगव्यालोलनेत्रोत्पलम्—उत्प्लुतोत्प्लुतः = उत्प्लुत्योत्प्लुत्य वेगेन धावन् यो मृगस्तस्येव व्यालोले = अतिचञ्चले नेत्रोत्पले = नेत्रकमले यस्मिंस्तादृक् (क्रमशः) इदम् = पुरोवर्ति, देव्याः = वासवदत्तायाः, तथा प्रियायाः = प्रियदर्शिकायाः, मुखम् उत्पश्यन् = विलोकयन्, तन्मनोगतभावं विभावयन्निति भावः। भीतः देवीमुखदर्शनादिति भावः। उत्सुकमानसश्च प्रियदर्शिकामुखदर्शनादिति भावः। अहम् = वत्सराजः, महति सङ्कटे, क्षिप्तः = पतितः अस्मि, एकतो देव्याः कोपकषायितं मुखं पश्यतो मे भयं जायते, अपरतः प्रियदर्शिकामुखं त्रासविह्वलं पश्यतस्तत्सङ्गमे महत्युत्सुकता हृद्युत्पद्यते, इत्थं

राजा—(देख कर) क्यों, देवी अनुग्रह किये विना हो चली गयीं।

एक यह देवी वासवदत्ता का मुख है जो कोपजनितप्रस्वेदजलबिन्दुओं से व्याप्त है और जिसकी भौंहें (क्रोध से तनी हुई) अत्यन्त भीषण हो रही हैं। दूसरा यह प्रिया (आरण्यका) का मुख है जिसके नेत्रकमल त्रास के कारण छलांग मार कर दौड़ने वाले मृग के नेत्रों के समान अत्यन्त चञ्चल हो रहे हैं। इस प्रकार एक ओर देवी का कोपकषायित मुख देख कर मुझे भय उत्पन्न होता है, दूसरी ओर प्रिया का त्रासविह्वल मुख देख कर उससे मिलने की

तद्यावदिदानीं शयनीयं गत्वा देव्याः प्रसादनोपायं चिन्तयामि ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति तृतीयोऽङ्कः



भिन्नभावाभ्यां महति सङ्कटे पातितोऽस्मीति वत्सराजोक्तेरभिप्रायः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ १५ ॥

इति कल्याण्याख्यायां प्रियदर्शिकाव्याख्यायां तृतीयोऽङ्कः ।



उत्सुकता हृदय में होती है । इन दो भिन्न भावों ने मुझे बड़े सङ्कट में डाल दिया है ॥ १५ ॥

अतः अब इस समय शयनागार में जाकर देवी को प्रसन्न करने का उपाय सोचता हूँ ।

(सभी जाते हैं)

तृतीय अङ्क समाप्त



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति मनोरमा)

मनोरमा—(सोद्वेगम्)अहो दीर्घरोषता देव्याः। कथमेतावन्तं कालं बद्धायाः प्रियसख्या आरण्यकाया उपर्यनुकम्पां न गृह्णाति। (सास्रम्) सा तपस्विन्यात्मनो बन्धनस्य क्लेशेन तथा न संतप्यते, यथा भर्तुर्दर्शननिराशतया। ईदृशं चास्या दुःखम्, येनाद्यैवात्मानं व्यापादयन्ती मया कथमपि निवारिता। 'एतं वृत्तान्तं भर्त्रे निवेदय' इति वसन्तकं

मनोरमेति—सोद्वेगम् = सशोकम्, तस्याः प्रियदर्शिकाविषये वासवदत्तानैष्ठुर्यं शोकहेतुरिति बोध्यम्। 'अहो' इति शोके। दीर्घरोषता—दीर्घः = अतिप्रवृद्धः, रोषः = कोपो यस्याः सा दीर्घरोषा, तस्या भावो दीर्घरोषता। देवी प्रियदर्शिकायामेतावच्चिरं कुपिता वर्तत इति महद्दुःखमिति भावः। आरण्यकायाः = प्रियदर्शिकायाः। अनुकम्पां न गृह्णाति = दयया न वर्तते। तपस्विनी = शोच्या, वराकीति यावत् ('मुनिशोच्यौ तपस्विनौ' इति विश्वः)। दर्शननिराशतया = दर्शनाक्षमतया। साऽऽरण्यका प्रियवत्सराजदर्शनं विना यथा पीडामनुभवति न तथा स्वबन्धनक्लेशेनेति भावः। तस्या दुःखातिरेकं निरूपयति—ईदृशमिति। अस्याः = आरण्यकायाः, दुःखम्, ईदृशम् = एतावत् प्रवृद्धम्। आत्मानं व्यापादयन्ती = आत्महत्यां कर्तुमुद्यता। मया = मनोरमया।

मनोरमा—(दुःख के साथ) ओह ! महारानी का कोप कितने लम्बे समय तक निरन्तर बना रहने वाला है। क्यों इतने समय तक बन्धन में डाली गयी प्रियसखी आरण्यका के ऊपर दया नहीं कर रही हैं। (नेत्रों में आँसू भर कर) वह वेचारी (आरण्यका) अपने बन्धन के क्लेश से उतनी सन्तप्त नहीं है जितनी कि महाराज के दर्शन के विषय में निराशा से सन्तप्त हो रही है। उसका दुःख ऐसा है कि जिससे वह आत्महत्या करने जा रही थी, मैंने

भणित्वागतास्मि । (अहो दीहरोसदा देवीए । कहं एत्तिअं कालं वड्ढाए पिअ-सहीए आरण्णआए उवरि अणुकम्पं ण गण्हइ । सा तवस्सिणी अत्तणो वण्धणस्स किलेसेण तह ण संतप्पदि, जह भट्टिणो दंसणणिरासदाए । 'ईरिसं च से दुक्खं, जेण अज्ज एव्व अत्ताणं वावादअन्ती मए कहं वि णिवारिदा । एदं उत्तान्तं भट्टिणो निवेदेहि' त्ति वसन्तअं भणिअ आअदह्मि)

(ततः प्रविशति काञ्चनमाला)

काञ्चनमाला—**कथमन्विष्यन्त्यापि मया भगवती साङ्कृत्यायनी न दृष्टा** । (विलोक्य) **तदेतामपि तावन्मनोरमां प्रक्ष्यामि** । (उपसृत्य) **मनोरमे. अपि जानासि कुत्र भगवती सांकृत्यायनीति** । (कहं अण्णेसन्तीए वि मए भअवई सङ्किञ्चाअणी ण दिट्ठा । तां एद वि दाव मणोरमं पुच्छस्सं मणोरमे, अवि जाणासि कहिं भअवई सकिञ्चअणित्ति)

मनोरमा—(विलोक्याश्रूणि प्रमृज्य) **हला काञ्चनमाले, दृष्टा** । **किं**

कथमपि = केनापि प्रकारेण, महत्कृच्छ्रेणेति यावत् । निवारिता = निरुद्धा । भर्त्रे = स्वामिने वत्सराजाय ।

काञ्चनमालेति—अङ्गारवत्या—अङ्गारवती = प्रद्योतस्य पत्नी, वासवदत्ताया जननी च तया । वाचिते = पठिते । तत् = तस्मात् । तस्याः = वासवदत्तायाः । विनोदननिमित्ताय = मनोरञ्जनाय । भगवतीम् = सांकृत्यायनीम् ।

मनोरमेति—हलेति सख्याः सम्बोधने । ('हण्डे हञ्जे हलाह्वाने नीचां

किसी तरह रोका । (आरण्यका आत्महत्या करने पर उतारू है) यह समाचार महाराज को बता दो—ऐसा वसन्तक से कह कर आयी हूँ ।

(तदनन्तर काञ्चनमाला का प्रवेश)

काञ्चानमाला—क्यों, बहुत खोज करने पर भी भगवती सांकृत्यायनी मुझे दिखायी नहीं पड़ीं । (देख कर) तो इस मनोरमा से भी (सांकृत्यायनी के विषय में) पूछूंगी । (समीप जाकर) मनोरमे, क्या तुम जानती हो कि भगवती सांकृत्यायनी कहाँ हैं ।

मनोरमा—(देखकर, आँसू पोंछकर) सखि, काञ्चनमाले, मैंने (सांकृ-

पुनस्तया प्रयोजनम् । (हला काञ्चणमाले, दिट्ठा किं उण ताए पओअणं)

काञ्चनमाला—मनोरमे, अद्य देव्याङ्गारवत्या लेखः प्रेषितः । तस्मिन्वाचिते बाष्पपूर्णनयना दृढं सन्तप्तुमारब्धा देवी । तद्विनोदननिमित्तं तस्या भगवतीमन्विष्यामि । (मणोरमे, अज्ज देवीए अङ्गारवदीए लेहो पेसिदो । तस्सिं वाचिदे वप्फपुण्णणअणा दिढं सन्तप्पिदुं आरद्धा देवी । ता विणोदणणिमित्तं ताए भअवदिं अण्णेसामि)

मनोरमा—हला, किं पुनस्तस्मिल्लेख आलिखितम् । (हला, कि उण तस्सि लेहे आलिहिदं)

काञ्चनमाला—या मम भगिनी सा तव जनन्येव तस्या भर्ता दृढवर्मा तातस्ते । तत्तव किमेतदाख्यातव्यम् । तस्य समधिकः संवत्सरः कलिङ्गहतकेन बद्धस्य । तन्न युक्तमेत वृत्तान्तमनिष्टं श्रुत्वा समीपस्थितस्य समर्थस्य भर्तुस्ते एवमुदासीनत्वमवलम्बितुम्' इति । (जा मम भइणिआ सा तव जणणी एव्व । ताए भत्ता दिढवम्मा तादो दे । ता तुह किं

' चेटीं सखीं प्रति' इत्यमरः) । लेखे = पत्रे ।

काञ्चनमालेति—मम = अङ्गारवत्याः । तव = वासवदत्ताया । जनन्येव = मातुर्भगिनी मातुरभिन्ना भवतीति भावः । समधिकः संवत्सरः = वत्सराद-

---

त्यायनी को) देखा है । उनसे क्या प्रयोजन है ?

काञ्चनमाला—मनोरमे, आज देवी अङ्गारवती ने पत्र भेजा है । उसे पढ़कर देवी (वासवदत्ता) ने नेत्रों में आँसू भरकर अत्यन्त खेद करना आरम्भ कर दिया है । अतः उनके मन को बहलाने के निमित्त भगवती (सांकृत्यायनी) को खोज रही हूँ ।

मनोरमा—सखि, उस पत्र में क्या लिखा है ?

काञ्चनमाला—मेरी जो बहिन है वह तुम्हारी माता ही हुई । उसके पति दृढवर्मा तुम्हारे पिता हुए । तो क्या यह तुमसे कहने की बात है कि उन दृढवर्मा को दुष्ट कलिङ्ग के बन्धन में पड़े हुए एक वर्ष से अधिक हो रहा है । अतः इस अनिष्ट वृत्तान्त को सुनकर (भी) समीपवर्ती और समर्थ होकर

एदं आ अक्खिदव्वं। तस्स समहिओ संवच्छरो कलिङ्गहदएण वद्धस्स। ता ण जुत्तं एदं उत्तान्तं अणिट्ठं सुणिअ समीवट्ठिदस्स समत्थस्स भत्तुणो दे एव्वं उदासीणत्तणं ओलम्बिदुंत्ति)

मनोरमा—हला काञ्चनमाले,यदा तावदयं वृत्तान्तो भट्टिन्यै न केनापि वाचयितव्य इति भर्त्राज्ञप्तम्, तत्केन पुनरिदानीं स लेखः श्रावितः। (हला कञ्चणमाले, जदा दाव अअं उत्तान्तो भट्टिणीए ण केण वि वाइदव्वोत्ति भट्टिणा आणत्तं, ता केण उण दाणिं सो लेहो सुणाविदो)

काञ्चनमाला—अनुवाच्य तूष्णींभूताया मम हस्ताद् गृहीत्वा स्वयमेव भट्टिन्या वाचितः। (अणुवाइअ तुण्हींभूदाए मह हत्थादो गेण्हिअ सअं एव्व भट्टिणीए वाइदो)

मनोरमा—तेन गच्छ त्वम्। एषा खलु देवी तयैव सह दन्तवलभ्यां तिष्ठति। (तेण गच्छ तुमं। एसा क्खु देवी ताए एव्व सह दन्तवलहीए चिट्ठइ)

काञ्चनमाला—तेन हि भट्टिनीसकाशं गमिष्यामि। (तेण ही भट्टिणी- सआसं गमिस्सं) [इति निष्क्रान्ता]

धिकः कालः। समर्थस्य = दृढवर्ममोचनक्षमस्य। उदासीनत्वम् = तटस्थत्वम्, उपेक्षामिति यावत्।

मनोरमेति—तयैव सह = सांकृत्यायन्यैव सह। दन्तवलभ्याम् = दन्तवलभी हस्तिदन्तनिर्मित उन्नततमः कक्षविशेषस्तस्याम्।

काञ्चनमालेति—भट्टिनीसकाशम् = देवी वासवदत्तासकाशम्।

(भी) तुम्हारे पति का इस प्रकार उदासीन होकर बैठ रहना उचित नहीं है।

मनोरमा—सखि काञ्चनमाले, महाराज ने जब आदेश दे रक्खा था कि कोई भी महारनी को यह पत्र न पढ़कर सुनाये तो फिर अब उस पत्र को किसने महारानी को सुना दिया ?

काञ्चनमाला—पढ़ कर मैं मौन धारण किये हुई थी कि मेरे हाथ से लेकर स्वयं उसे पढ़ लिया।

मनोरमा—तो तुम जाओ। महारानी तो उन्हीं (सांकृत्यायनी) के साथ दन्तवलभी (हाथी दाँत का बना हुआ सबसे ऊपर का कक्ष) में बैठी हैं।

काञ्चनमाला—तब मैं महारानी के पास जाऊँगी। (जाती है)

मनोरमा–चिरं खलु मे आरण्यकासकाशादागतायाः। दृढं च निर्विण्णा सा तपस्विन्यात्मनो जीवितेन। कदाचिदत्याहितं भवेत्। तत्तत्रैव गच्छामि। (चिरं खु मे आरण्णआसआसादो आअदाए। दिढं च णिव्विण्णा सा तवस्सिणी अत्तणो जीविदेण। कदाइ अच्चाहिदं भवे। ता तहिं एव्व गच्छह्मि)

[इति निष्क्रान्ता]

इति प्रवेशकः।

(ततः प्रविशति सोद्वेगासनस्था वासवदत्ता, सांकृत्यायनी, विभवतश्च परिवारः)

सांकृत्यायनी—राजपुत्रि, अलमुद्वेगेन। नेदृशो वत्सराजः। कथमित्थंगतमपि भवत्या मातृष्वसृपतिं विज्ञाय वत्सराजो निश्चिन्तं स्थास्यति।

मनोरमेति—दृढम् = अत्यन्तम्। निर्विण्णा = खिन्ना। अत्याहितम् = अनर्थः।

सांकृत्यायनीति—उद्वेगेन = दुःखेन। कथम् = केन प्रकारेण। इत्थंगतमपि = ईदृशीं दुःरवस्थामापन्नमपि। मातृष्वसृपतिम् = दृढवर्माणमित्यर्थः।

मनोरमा—मुझे आरण्यका के पास से आये बड़ी देर हुई। वह बेचारी अपने जीवन से काफी तंग हो चुकी है। कहीं कुछ अनर्थ न हो जाय। इसलिए मैं वहीं जा रही हूँ।

(जाती है)

प्रवेशक समाप्त

(तदनन्तर सोद्वेग, आसन पर बैठी वासवदत्ता, सांकृत्यायनी और विभवानुकूल परिजन का प्रवेश)

सांकृत्यायनी—राजपुत्रि, खेद न करें। वत्सराज ऐसे नहीं हैं। आप के मौसे को इस प्रकार विपत्ति में पड़ा जान कर वत्सराज कैसे निश्चिंत रहेंगे?

वासवदत्ता—(सास्रम्) भगवति, अतिऋजुकेदानीं त्वम्। यस्य मया न कार्यम्, तस्य मदीयेन किं कार्यम्। मातुर्युक्तं ममैतदालिखितुम्। सापुनर्न जानात्यद्य तादृशी न वासवदत्तेति। तव पुनरेष आरण्यकावृत्तान्तः प्रत्यक्षः। तत्कथमेतद्भणसि। (भअवदि, आदिउज्जुआदाणिं तुमं। जस्स मए ण कज्जं, तस्स ममकेरएण किं कज्जं। अज्जुआए जुत्तं मम एदं आलिहिदुं। सा उण ण आणादि अज्ज तारिसी ण वासवदत्तेति। तुह उण एसो आरण्णआए वुत्तान्तो पच्चक्खो। ता कहं एदं भणसि)

सांकृत्यायनी—यत एव मे प्रत्यक्षः, तत एवं ब्रवीमि। तेन ननु

वासवदत्तेति--अतिऋजुका = अतिसरलस्वभावा, छलच्छिद्रानभिज्ञेत्यर्थः। यस्य मया न कार्यम्—यस्य वत्सराजस्य, मया = वासवदत्तया, न कार्यम् = न प्रयोजनम्। तस्य = वत्सराजस्य। मदीयेन = मत्सम्बन्धिना, मातृष्वसृपतिना दृढवर्मणा। यो वत्सराजः पराङ्गनासक्ततया मामेवावधीरयति स मन्मातृष्वसृपतिं शत्रुबन्धनान्मोचयितुं प्रवृत्तो भवेदित्यसंभाव्यमिति वासवदत्तोक्तेराशयः। मातुर्युक्तं ममैतदालिखितुम् = मात्रा यल्लिखितंतत्तु युक्तमेव स्वस्थाने। सा पुनर्न जानात्यद्य तादृशी न वासवदत्तेति—किं तु न जानाति मम माता यत् साम्प्रतं वासवदत्ता कस्यां स्थितौ पतिता वर्तते, तस्या वत्सराजे प्रभुता समाप्तिं गता, सा वत्सराजेन किमपि कारयितुमक्षमेति भावः। तव पुनरेष आरण्यकावृत्तान्तः प्रत्यक्षः = त्वया स्वनेत्राभ्यां दृष्ट एवारण्यकावृत्तान्तः। तत् = तस्मात्, वत्सराजस्यारण्यकां प्रत्यासक्तिं दृष्ट्वापि, कथम् = केन प्रकारेण, एतत् = नेदृशो वत्सराज इत्येतद्वचः। भणसि = कथयसि।

वासवदत्ता—(आँखों में आसू भर कर) भगवति, इस समय आप अत्यन्त सरल बन रही हैं। भला जिसे मुझसे कोई प्रयोजन नहीं उसे मेरे सम्बन्धी से क्या मतलब। माता का मुझे ऐसा लिखना तो युक्त ही है किन्तु उसे यह मालूम नहीं है कि वासवदत्ता पहिले की वासवदेत्ता नहीं रह गयी है। आप को तो यह आरण्यका—वृत्तान्त प्रत्यक्ष ज्ञात ही हो चुका है, तो फिर कैसे यह कह रही हैं ?

सांकृत्यायनी—क्यों कि आरण्यकावृत्तान्त का मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है इसी

कौमुदीमहोत्सवे त्वां हासयितुं तथा क्रीडितम् ।

वासवदत्ता—भगवति, एतदत्र सत्यम् । तथा हासितास्मि, येन भगवत्याः पुरतो लज्जया कथमपि तिष्ठामि । तत्किं तदीयया कथया । नन्वेतेनैव पक्षपातेनैतावतीं भूमिं नीतास्मि । (भअवदि, एदं एत्थ सच्चं । तह हासिदह्मि, जेण भअवदीए पुरदो लज्जाए कहं वि चिट्ठामि । ता किं तक्केरकाए कहाए णं एदेण एव्व पक्खवादेण एत्तिअं भूमिं णीदह्मि) (इति रोदिति)

सांकृत्यायनी—अलं राजपुत्रि रुदितेन । नेदृशो वत्सराजः ।

सांकृत्यायनीति—यत एव मे प्रत्यक्षः, तत एव ब्रवीमि—मया स्वनेत्राभ्यां तदारण्यकावृत्तान्तो दृष्टः, दृष्ट्वैवाहं तद्रहस्यं ज्ञात्वैवं भणामीत्यर्थः ।

तेन = वत्सराजेन, नन्विति निश्चये । त्वाम् = वासवदत्ताम् । हासयितुम् = प्रसादयितुमित्यर्थः । तथा क्रीडितम् = तादृशी क्रीडा रचिता । तत्रासीद्विनोदप्रियतामात्रं, तस्मादहं विश्वसिमि यद् वत्सराजः पूर्ववदेव त्वयि स्निह्यति, तत्कथं त्वन्मातृष्वसृपतिं बन्धनान्मोचयितुं स न प्रयतिष्यते इति तदाशयः ।

वासवदत्तेति—एतत् = हासयितुम् इति त्वत्कथनम् । हासितास्मि = हास्यास्पदं कृतास्मि । कथमपि = अतिकृच्छ्रेणेत्यर्थः । पक्षपातेन = वत्सराजे तव समादरभावनया । एतावतीं भूमिं नीतास्मि = एतामवधीरणापूर्णां स्थितिं प्रापिताऽस्मि ।

सांकृत्यायनीति—प्राप्त एवायम्—अयं महाराज आगच्छत्येव । अश्रुप्र-

---

लिए ही ऐसा कह रही हूँ । निस्सन्देह महाराज ने कौमुदी महोत्सव के अवसर पर तुम्हें हँसाने के लिए उस तरह का खेल किया था ।

वासवदत्ता—भवति, इसमें यह तो सत्य है ही कि मैं इस प्रकार हँसायी गयी हूँ कि आप के सामने लज्जा से किसी प्रकार (कठिनाई से) ठहर पाती हूँ । तो उस बात को जाने दीजिए । वत्सराज के प्रति आप को इसी समादर भावना के कारण तो इस अवधीरणापूर्ण स्थिति को मैं पहुँच गयी हूँ । (ऐसा कह कर रोती है)

सांकृत्यायनी—राजपुत्रि, रोओ मत । वत्सराज ऐसे नहीं हैं । (देख

(विलोक्य) अथवा प्राप्त एवायम्, यस्ते अश्रुप्रमार्जनं करोति।

वासवदत्ता—मनोरथा इदानीमेते भगवत्याः। (मणोरहा दाणिं एदे भअवदीए)

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च)

राजा—वयस्य, क इदानीमभ्युपायः प्रियां मोचयितुम्।

विदूषकः—भो वयस्य, मुञ्च विषादम्। अहं ते उपायं कथयिष्यामि। (भो वअस्स, मुञ्च विसादं। अहं दे उवाअं कहइस्सं)

राजा—(सहर्षम्) वयस्य, त्वरिततरमभिधीयताम्।

विदूषकः—भोः, त्वं तावदनेकसमरसङ्घट्टप्रभावबाहुशाली, पुनरप्यनेकगजतुरगपदातिदुर्विषहबलसमुदितः। तत्सर्वबलसन्दोहेनान्तःपुरं

मार्जनम् = प्रसादनमित्यर्थः।

वासवदत्तेति—मनोरथा इदानीमेते भगवत्याः—भवत्याः मनोरथमात्रमेतत्, वत्सराजागमनस्याशक्यत्वादिति भावः।

विदूषक इति—अनेकसमरसंघट्टप्रभाववाहुशाली—अनेकेषु समरेषु = युद्धेषु संघट्टाः = संघर्षास्तत्र प्रभावः = अव्यर्थता ययोस्तादृशाभ्यां बाहुभ्यां शालते = शोभते तच्छीलः। अनेकगजतुरगपदातिदुर्विषहवलसमुदितः—अनेके ये गजाः, तुरगाः = अश्वाः, पदातयश्च तैः दुर्विषहम् = रिपुभिः सोढुमशक्यं यद् बलम् = सेना, तेन समुदितः = उपेतः। तत् = तस्मात्। सर्वबलसन्दोहेन

कर) अथवा यह महाराज स्वयम् आ रहे हैं जो तुम्हारे आँसू पोछेंगे।

वासवदत्ता—इस समय ये सब आप के मनोरथमात्र हैं (वस्तुस्थिति कुछ और ही है)।

(तदनन्तर राजा और विदूषक का प्रवेश)

राजा—वयस्य, इस समय प्रिया को बन्धन से छुड़ाने का कौन सा उपाय है?

विदूषक—वयस्य, विषाद छोड़ दो। मैं तुमको उपाय बताऊँगा।

राजा—(सहर्ष) वयस्य, बहुत शीघ्र बताओ।

विदूषक—अजी, तुम्हारी भुजाएँ अनेक युद्ध-सङ्घर्षों में अपना प्रभाव

सुपीडितं कृत्वेदानीमेवारण्यकां मोचय। (भो, तुमं दाव अणेअसमरसङ्घट्टप्पहाववाहुसाली, पुणो वि अणेअगअतुरअपआइदुव्विसहवलसमुदिदो। ता सव्ववलसंदोहेण अन्तेउरं सुपीडिअं करिअ दाणिं एव्व आरण्णअं मोचावेहि)

राजा--वयस्य, अशक्यमुपदिष्टम्।

विदूषकः-किमत्राशक्यम्। यतस्तावत्कुब्जवामनवृद्धकञ्चुकिवर्जितो मनुष्योऽपरो नास्ति तत्र। (किं एत्थ असक्कं जदो दाव कुज्जवामणवुड्ढकञ्चुइवज्जिदो मणुस्सो अवरो णत्थि तहिं)

राजा—(सावज्ञम्) मूर्ख, किमसम्बद्धं प्रलपसि। देव्याःप्रसादं मुक्त्वा नान्यस्तस्या मोक्षणाभ्युपायः। तत्कथय कथ देवीं प्रसादयामि

विदूषकः---भो, मासोपवासं कृत्वा जीवितं धारय। एवं देवी चण्डी प्रसत्स्यति। (भो मासोववासं करिअ जीविदं धारेहि। एव्वं देवी चण्डी पसीदिस्सदि)

- समस्त सैन्यसमुदायेन। सुपीडितम् = सम्मर्दितम्।

राजेति—असम्बद्धम् = अनौचित्यपूर्णमित्यर्थः।

विदूषक इति—मासोपवासम् = मासमेकं निराहारव्रतम्। प्रसत्स्यति = प्रसन्नतामेष्यति।

दिखा चुकी हैं और तुम्हारे पास अनेक गजों, अश्वों और पदातियों (पैदल चलने वाले वीरों) की पराक्रमशालिनी सेना भी है। अतः समस्तसैन्यसमुदाय से अन्तःपुर को सम्मर्दित कर अभी हीं आरण्यका को छुड़ा लो।

राजा--वयस्य, तुम्हारी वनायी तरकीव तो अशक्य है।

विदूषक—इसमें अशक्य क्या है? जब कि वहाँ कुवड़ों, वौनों और वृद्ध कञ्चुकियों के अतिरिक्त दूसरा मनुष्य तो है ही नहीं।

राजा—(तिरस्कार पूर्वक) मूर्ख, क्यों अनौचित्यपूर्ण वात करता है? देवी की प्रसन्नता के अतिरिक्त उसको मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। तो वताओ, देवी को कैसे प्रसन्न करूँ।

विदूषक--अजी, महीने भर उपवास करके जीवन धारण करो! इस प्रकार चण्डी (१-कोपयुक्त, २- दुर्गा) देवी प्रसन्न होंगी।

राजा—(विहस्य) अलं परिहासेन। कथय कथं देवीं प्रसादयामि।
धृष्टः किं पुरतोऽवरुध्य विहसन्गृह्णामि कण्ठे प्रियां
किं वा चाटुशतप्रपंचरचनाप्रीतां करिष्यामि ताम्।
किं तिष्ठामि कृताञ्जलिर्निपतितो देव्याः पुरः पादयोः
सत्यं सत्यमहो न वेद्म्यनुनयो देव्याः कथं स्यादिति ॥ १ ॥
तदेहि। देवीसकाशमेव गच्छावः।

विदूषकः—भोः गच्छ त्वम्। अहं पुनरिदानीमेव बन्धनात्कथमपि परिभ्रश्यागतोऽस्मि। तन्न गमिष्यामि। (भो गच्छ तुमं। अहं उण दाणिं

राजा देवीं प्रसादयितुमुपायान्निरूपयन्नाह—धृष्ट इति।

किं धृष्टः = अलज्जितः सन्, (अहम्) पुरतः = अग्रतः, अवरुध्य=निरुध्य गतिमिति शेषः। विहसन्, प्रियाम् = वासवदत्ताम्, कण्ठे गृह्णामि = आश्लिष्यामि। किं वा ताम् चाटुशतप्रपञ्चरचनाप्रीताम्—चाटूनाम् = प्रियमधुरवाक्यानाम्, शतस्य प्रपञ्चः = विस्तारस्तस्य रचनया = विधानेन, प्रीताम् = प्रसन्नाम्, करिष्यामि? किं देव्याः = वासवदत्तायाः, पुरः = अग्रे, पादयोः निपतितः कृताञ्जलिः = बद्धकरयुगलः (सन्) तिष्ठामि। अहो इति खेदे। सत्यं सत्यम् = नितान्तं सत्यम्, देव्याः अनुनयः = प्रसादनम्, कथं स्यात् = केन प्रकारेण स्यादिति, न वेद्मि = न जानामि ॥ १ ॥

विदूषक इति—कथमपि = केनापि प्रकारेण, अतिकृच्छ्रेणेत्यर्थः। परिभ्रश्य = मुक्तिं प्राप्य।

राजा—(हँसकर) मजाक न करो। बताओ, देवी को प्रसन्न कैसे करूँ।

क्या निर्लज्ज बन कर देवी का आगा रोककर हँसता हुआ उन्हें गलेसे लगा लूँ अथवा अनेक प्रकार की चाटूक्तियों से उन्हें प्रसन्न करुँ, किंवा हाथ जोड़ कर देवी के चरणों पर गिर कर पड़ा रहूँ। देवी का अनुनय कैसे हो, यह बात वास्तव में मैं समझ नहीं पा रहा हूँ ॥ १ ॥

तो आओ, देवी के पास ही चलें।

विदूषक—अरे, तुम जाओ। मैं तो अभी-अभी किसी तरह बन्धन से

एव्ववन्धणादो कहं वि परिब्भंसिअ आअदोह्मि । ता ण गमिस्सं)

राजा—(विहस्य, कण्ठे गृहीत्वा बलान्निवर्तयति) मूर्ख, आगम्यतामागम्यताम् । (परिक्रम्यावलोक्य च) इयं देवी दन्तवलभीमध्यमध्यास्ते । यावदुपसर्पामि । (सलज्जमुपसर्पति)

(वासवदत्ता सखेदमासनादुत्तिष्ठति)

राजा—

किं मुक्तमासनमलं मयि संभ्रमेण
नोत्थातुमित्थमुचितं मम तान्तमध्ये ।
दृष्टिप्रसादविधिमात्रहृतो जनोऽय-
मत्यादरेण किमिति क्रियते विलक्षः ॥ २ ॥

राजेति—परिक्रम्य = कतिचित् पदानि गत्वा । देवी = वासवदत्ता । दन्तवलभीमध्यमध्यास्ते = हस्तिदन्तनिर्मितकक्षाभ्यन्तरे वर्तते । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्याधारस्य कर्मत्वम्, कर्मणि द्वितीया च ।

किं मुक्तमिति—आसनम् किम् = किमर्थम्, मुक्तम् = त्यक्तम् ? मयि = मद्विषये, सम्भ्रमेण = आदरेण अलम्, आदरप्रदर्शनं निष्प्रयोजनमित्यर्थः । तान्तमध्ये—तान्तः = कृशः, मध्यः=कटिप्रदेशः यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे तान्तमध्ये = कृशोदरि, मम (कृते इति शेषः),इत्थम् = अनेन प्रकारेण, उत्थातुम् समादरप्रदर्शनार्थमितिभावः, नोचितम् । दृष्टिप्रसादविधिमात्रहृतः—दृष्टिः = दृक्पात एव प्रसादः = अनुग्रहः, तस्य विधिमात्रेण = करणेनैव हृतः = आयत्तीकृतः, अयं जनः = अहं वत्सराजः, अत्यादरेण = अभ्युत्थानादिना, किमिति = किमर्थं, विलक्षः = लज्जितः क्रियते ? वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २ ॥

मुक्त होकर आया हूँ इस लिए नहीं जाऊँगा ।

राजा—(हँसकर गला पकड़ कर बलपूर्वक लौटाता है) मूर्ख, आओ आओ । (चल कर और देखकर) यही तो महारानी दन्तवलभी (कक्षविशेष) के अन्दर बैठी हैं । तो समीप चलता हूँ । (लज्जा के साथ समीप जाता है)

(वासवदत्ता खेद के साथ आसन से उठती है)

राजा—अरे, आसन क्यों छोड़ दिया, मेरे प्रति आदर प्रदर्शन का कोई

वासवदत्ता—(मुखं निरूप्य) आर्यपुत्र, विलक्ष इदानीं त्वं भवसि । (अज्जउत्त; विलक्खो दाणिं तुमं होसि)

राजा—प्रिये सत्यमहं विलक्षः । यत्प्रत्यक्षदृष्टापराधोऽपि भवतीं प्रसादयितुं व्यवसितोऽस्मि ।

सांकृत्यायनी—(आसनं निर्दिश्य) महाराज क्रियतामासन-परिग्रहः ।

राजा—(आसनं निर्दिश्य) इत इतो देव्युपविशतु ।

(वासवदत्ता भूमावुपविशति)

राजा—आः कथं भूमावुपविष्टा देवी । अहमप्यत्रैवोपविशामि ।

वासवदत्तेति—मुखम् = राज्ञो मुखमित्यर्थः । निरूप्य = निपुणं निरीक्ष्य । विलक्षः = लज्जितः ।

राजेति । प्रत्यक्षदृष्टापराधः—प्रत्यक्षं दृष्टः अपराधो यस्य सः । व्यवसितोऽस्मि = कृतप्रयत्नोऽस्मि । स्वापराधस्य प्रत्यक्षदृष्टतयाऽपि भवतीं प्रसादयितुं प्रयत्नं करोमि इति मम लज्जाहेतुरेवेति भावः ।

प्रयोजन नहीं । कृशोदरि, मेरे लिए (आदर प्रदर्शनार्थ) इस तरह उठना उचित नहीं है । मैं तो तुम्हारे दृष्टिपातमात्र के अनुग्रह से मुग्ध होने वाला व्यक्ति हूँ तो मुझे अभ्युत्थानादि द्वारा आदर प्रदर्शन कर क्यों लज्जित करती हो ? ॥ २ ॥

वासवदत्ता—(मुख को भली भाँति देखकर) आर्यपुत्र, तुम इस समय लज्जित हो रहे हो ।

राजा—प्रिये, सचमुच मैं लज्जित हो रहा हूँ, जो अपने अपराध के प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने पर भी आप को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा हूँ ।

सांकृत्यायनी—(आसन की ओर संकेत कर) महाराज, आसन-ग्रहण कीजिए ।

राजा—(आसन की ओर संकेत कर) देवी इधर बैठें ।

(वासवदत्ता भूमि पर बैठती है)

राजा—ओह ! देवी भूमि पर क्यों बैठ गयीं । तो मैं भी भूमि पर ही बैठता हूँ ।

(इति भूमावुपविश्य, कृताञ्जलिः) प्रिये, प्रसीद प्रसीद । किमेवं प्रणतेऽपि मयि गम्भीरतरं कोपमुद्वहसि ।

भ्रूभङ्गं न करोषि रोदिषि मुहुर्मुग्धेक्षणे केवलं
नातिप्रस्फुरिताधरानवरतं निःश्वासमेवोज्झसि ।
वाचं नापि ददासि तिष्ठसि परं प्रध्याननम्रानना
कोपस्ते स्तिमितो निपीडयति मां गूढप्रहारोपमः ॥ ३ ॥

प्रिये, प्रसीद प्रसीद । (इति पादयोः पतति)

वासवदत्ता—अतिसुखितो नन्वसि किमिदानीं दुःखितं जनं

गम्भीरतरम्=अतिदृढम्, सहसाऽपनेतुमशक्यमित्यर्थः ।

भ्रूभङ्गमिति । मुग्धेक्षणे—मुग्धे = रुचिरे, ईक्षणे = नयने यस्याः सा मुग्धेक्षणा तत्सम्बुद्धौ हे मुग्धेक्षणे = रुचिरनयने ! भ्रूभङ्गं न करोषि—मयि सरोषं भ्रुवोः कौटिल्यं न करोषि । केवलं मुहुः = पुनः पुनः रोदिषि । नातिप्रस्फुरिताधरा—नातिप्रस्फुरितः = ईषत्कम्पमान इत्यर्थः, अधरः यस्याः सा तादृशी सती अनवरतम् = सततम्, निःश्वासमेव उज्झसि = मुञ्चसि । वाचं नापि ददासि = किमपि न वदसि । परम् प्रत्युत, प्रध्याननम्रानना—प्रध्यानेन = प्रकृष्टचिन्तया नम्रम् = नतम्, आननम् = मुखं यस्यास्तादृशी तिष्ठसि । (तदेवम्) स्तिमितः = निगूढः, ते = तव, कोपः, गूढप्रहारोपमः = गूढप्रहारसदृशः, माम् निपीडयति = नितरां व्यथयति ॥ ३ ॥

वासवदत्तेति । सोपालम्भं वासवदत्ता राजानमाह—अतिसुखितो

(भूमि पर बैठ कर, हाथ जोड़कर) प्रिये, प्रसन्न हो ओ प्रसन्न हो ओ । क्यों इस तरह मेरे प्रणत होने पर भी अत्यन्त गम्भीर कोप धारण किये हो ?

अरे मुग्धाक्षि ! सरोष भौहों को कुटिल न कर केवल बार-बार रोती हो । तुम्हारे ओष्ठ अधिक नहीं फड़क रहे हैं । निरन्तर लम्बी साँस ही छोड़ती हो । तुम कुछ बात नहीं करती हो, प्रत्युत घोर चिन्ता से मुँह झुकाए बैठी हो । इस प्रकार तुम्हारा यह निगूढ कोप गूढ प्रहार की तरह मुझे अत्यन्त पीडित कर रहा है ॥ ३ ॥

प्रिये, प्रसन्न होओ प्रसन्न होओ । (ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है)

वासवदत्ता—अरे, आप तो अत्यन्त सुखी हैं । इस समय (इस) दुःखी

विकारयसि। उत्तिष्ठ। कोऽत्र कुपितः। (अदिसुहिदो णं सि। किं दाणिं दूक्खिदं जणं विआरेसि। उट्ठेहि। को एत्थ कुविदो)

साङ्कृत्यायनी—उत्तिष्ठ। महाराज, किमनेन। अन्यदेव तावदुद्वेगकारणमस्याः।

राजा—(ससंभ्रमम्) भगवति, किमन्यत्।

(साङ्कृत्यायनी कर्णे कर्णयति)

राजा—(विहस्य) यद्येवमलमुद्वेगेन। मयापि ज्ञातम्, सिद्ध एवास्मिन्प्रयोजने देवीं दिष्ट्या वर्धयिष्यामीति नोक्तम्। अन्यथा कथमहं दृढवर्मवृत्तान्ते विस्रब्धस्तिष्ठामि। तत्कतिपयान्यहानि तद्वार्तायां आगतायाः। इदं च तत्र वर्तते।

नन्वसि। अतिसुखितस्य तवान्यजनविषये कापि चिन्ता नास्तीत्यभिप्रायः। विकारयसि = विडम्बयसि।

सांकृत्यायनीति। अन्यदेव—न हि कोप उद्वेगकारणं अपि तु तस्माद्भिन्नमेव।

राजेति। सिद्धे = निष्पन्ने। प्रयोजने = दृढवर्मणो मुक्तवन्धनत्वरूपे कार्ये। विस्रब्धः=निश्चिन्तः। दृढवर्मणि मुक्तवन्धने जाते सत्येव तच्छुभवृत्तान्तं देव्यै निवेदयिष्यामीत्यवधार्यैवाद्य प्रभृति न किमप्युक्तवानहमन्यथा दृढवर्मविषये किञ्चिदकुर्वन् कथं विस्रब्धस्तिष्ठामीति राज्ञ आशयः।

जन की क्यों विडम्बना कर रहे हैं ? उठिए यहाँ कुपित कौन है ?

सांकृत्यायनी—महाराज, उठिए। इस (चरणपात) का क्या प्रयोजन ? इनके दुःख का कारण तो कुछ और ही है।

राजा—(उत्सुकता पूर्वक) भगवति, वह अन्य कारण क्या है ?

(सांकृत्यायनी कान में कहती है)

राजा—(हँस कर) यदि ऐसी वात है तो खेद की आवश्यकता नहीं। मैं भी इस वात को जानता था किन्तु कहा नहीं था, अन्यथा दृढवर्मा के विषय में कुछ न करके मैं निश्चिन्त कैसे वैठ सकता था। तो कुछ ही दिन हुए, वहाँ का समाचार आ गया है। वहाँ का यह वृत्तान्त है—

अस्मद्बलैर्विजयसेनपुरःसरैस्तै-
राक्रान्तबाह्यविषया विहतप्रतापः ।
दुर्गं कलिङ्गहतकः सहसा प्रविश्य
प्राकारमात्रशरणोऽशरणः कृतोऽसौ ॥ ४ ॥

तदवस्थं च तं
निर्दिष्टाक्रान्तमन्दं प्रतिदिनविरमद्वीरदासेरवृत्तं
सध्वंसं शीर्यमाणद्विपतुरगनरक्षीणनिःशेषसैन्यम् ।

अस्मद्बलैरिति । तैः प्रसिद्धैः ' विजयसेनपुरःसरैः — विजयसेनः पुरः-सरः येषां तैः, विजयसेनप्रमुखैरित्यर्थः, अस्मद्बलैः = अस्माकं सैन्यैः, आक्रान्त-वाह्यविषयः—आक्रान्तः = व्याप्तः, अधिकृत इत्यर्थः, वाह्यः=वहिर्गतः, विषयः= भूभागः यस्य तादृशः, विहतप्रतापः—विहतः विनष्टः, प्रतापोयस्य स तथोक्तः, असौ कलिङ्गहतकः— कलिङ्गश्चासौ हतकः, अधमकलिङ्ग इत्यर्थः, अशरणः = शरणरहितः सन्, सहसा दुर्गं प्रविश्य (स्थितः), प्रकारमात्रशरणः—प्राकार-मात्रं शरणं यस्य तादृशः, कृतः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

निर्दिष्टेत्यादि । भगवति = सांकृत्यायनि ! निर्दिष्टाक्रान्तमन्दम् —निर्दि-ष्टेन = पूर्वोक्तेन, आक्रान्तेन = आक्रमणेन, मन्दम् = निरुत्साहम्, प्रतिदिनविरम-द्वीरदासेरवृत्तम्—प्रतिदिनम् = उत्तरोत्तरमित्यर्थः, विरमत्=क्षीयमाणम्, वीराणां दासेराणाम् = भृत्यानाम् च वृत्ताम् = युद्धादि व्यापारं यस्य तथोक्तम्, सध्वंसम्– ध्वंसेन = नाशेन सहितम्, नष्टप्रायमित्यर्थः । शीर्यमाणेत्यादिः –-शीर्यमाणैः = ध्वस्यमानैः द्विपैः = हस्तिभिः, तुरगैः = अश्वैः, नरैश्च क्षीणम् = निःशेषम् सैन्यं

विजयसेन के नेतृत्व में गयी हमारी सेना ने वाह्य प्रदेश को आक्रान्त कर मुए कलिङ्ग के प्रताप को विनष्ट कर दिया । उसे जब कहीं शरण न मिली तो सहसा वह दुर्ग में प्रविष्ट हो गया । इस प्रकार हमारी सेना ने उसे दुर्ग की चहार दीवारी मात्र की शरण लेने के लिए विवश कर दिया ॥ ४ ॥

इस अवस्था को प्राप्त वह कलिङ्ग पूर्वोक्त आक्रमण से उत्साह हीन हो चुका है उसके वीरों और भृत्यों का युद्धादि व्यापार उत्तरोत्तर क्षीण होता

अद्य श्वो वा विभग्ने झटिति मम बलैः सर्वतस्तत्र दुर्गे
बद्धं युद्धे हतं वा भगवति न चिराच्छ्रोष्यसि त्वं कलिङ्गम् ॥ ५ ॥

साङ्कृत्यायनी—राजपुत्रि, प्रथमतरमेव भवत्याः कथितं मया कथमप्रतिविधाय वत्सराजः स्थास्यतीति ।

वासवदत्ता—यद्येवं प्रियं मे । (जइ एव्वं पिअं मे)

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—जयतु जयतु भर्ता । एष खलु विजयसेनो दृढवर्मकञ्चुकिसहितो हर्षसमुत्फुल्ललोचनः प्रियं निवेदयितुकामो द्वारे तिष्ठति ।

यस्य तम् कलिङ्गम् अद्य श्वो वा-अतिशीघ्रमिति भावः । सर्वतः = सर्वासु दिक्षुसु तत्र = कलिङ्गाधिष्ठिते तस्मिन् दुर्गे झटिति = अचिरेण मम बलैः = सैन्यैः, विभग्ने = विध्वस्ते सति, न चिरात् युद्धे बद्धं हतं वा त्वं श्रोष्यसि । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ ५ ॥

सांकृत्यायनीति । अप्रतिविधाय = प्रतिकारमकृत्वा ।

प्रतीहारीति । हर्षसमुत्फुल्ललोचनः—हर्षेण समुत्फुल्ले = विकसिते लोचने यस्य तादृशः । प्रियम् = शुभसमाचारम् ।

जा रहा है, वह ध्वंस के कगार पर पहुँच गया है । हाथियों, घोड़ों और पैदल सैनिकों के ध्वस्त होते रहने से उसकी सैन्यशक्ति विनष्ट हो चुकी है । अब आज या कल ही (अति शीघ्र) उस किले को मेरी सेना भग्न कर देगी और शीघ्र ही आप सुनेंगी कि कलिङ्ग युद्ध में मारा गया या बन्दी बना लिया गया ॥ ५ ॥

सांकृत्यायनी—राजपुत्रि, मैंने पहिले ही आप से कह दिया था कि वत्सराज विना प्रतीकार किये कैसे रहेंगे ।

वासवदत्ता—यदि ऐसा है तो मेरे लिए यह प्रसन्नता की बात है ।

(प्रवेश कर)

प्रतीहारी—जय हो जय हो महाराज की ! दृढवर्मा के कञ्चुकी के साथ हर्ष से उत्फुल्ल नेत्रों वाले ये विजयसेन शुभ समाचार निवेदन करने की कामना से द्वार पर खड़े हैं ।

(जेदु जेदु भट्ठा । एसो क्खु विअअसेणो दिढवम्मकञ्चुइसहिदो हरिसमुप्फुल्ल-लोअणो पिअं णिवेदिदुकामो दुवारे चिट्ठइ)

वासवदत्ता—(सस्मितम्) भगवति, तर्कयामि यथा परितोषितास्म्यार्यपुत्रेणेति । (भअवदि, तक्केमि जह परिदोसिदह्मि अज्ज उत्तेणेति)

साङ्कृत्यायनी—वत्सराजपक्षपातिनी खल्वहं न किंचिदपि ब्रवीमि ।

राजा—शीघ्रं प्रवेशय तौ ।

प्रतीहारी—तथा । (तह) (इति निष्क्रान्ता ।)

(ततः प्रविशति विजयसेनः कञ्चुकी च)

विजयसेनः—भोः कञ्चुकिन्, अद्य स्वामिपादा द्रष्टव्या इति यत्सत्यमनुपमं कमपि सुखातिशयमनुभवामि ।

वासवदत्तेति । परितोषिता = कलिङ्गं निपात्य दृढवर्माणं राज्यासने संस्थाप्य च महाराजेनाहं परितोषं नीता ।

सांकृत्यायनीति । वत्सराजपक्षपातिनी खल्वहं न किंचिदपि ब्रवीमि—अहं किमपि वक्तुमसमर्था यतो भवत्या दृष्ट्याऽहं वत्सराजं प्रति पक्षपातं करोमि । एतेनैव पक्षपातेनेत्यादि वासवदत्तोक्तिं मनसि कृत्वा साङ्कृत्यायन्येद-मुक्तमिति बोध्यम् ।

वासवदत्ता—(मुस्कराहट के साथ) भगवति, अनुमान करती हूँ कि आर्यपुत्र ने मुझे परितुष्ट कर दिया है ।

सांकृत्यायनी—मैं कुछ कह नहीं सकती हूँ क्योंकि मैं तो वत्सराज की पक्षपातिनी हूँ ।

राजा—उन दोनों को शीघ्र अन्दर ले आओ ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा (जाती है)

(तदनन्तर विजयसेन और कञ्चुकी का प्रवेश)

विजयसेन—कञ्चुकी, आज स्वामी के दर्शन होंगे, इससे सचमुच मुझे अनुपम अनिर्वचनीय सुखातिशय का अनुभव हो रहा है ।

कञ्चुकी—विजयसेन, अवितथमेतत् । पश्य ।

सुखनिर्भरोऽन्यथापि स्वामिनमवलोक्य भवति भृत्यजनः ।
किं पुनररिबलविघटननिर्व्यूढप्रभुनियोगभरः ॥ ६ ॥

उभौ—(उपसृत्य) जयतु जयतु स्वामी ।

(राजा उभावपि परिष्वजते)

कञ्चुकी—देव, दिष्ट्या वर्धसे ।

हत्वा कलिङ्गहतकं ह्यस्मत्स्वामी निवेशितो राज्ये ।
देवस्य समादेशाद्रिपुञ्जयिना विजयसेनेन ॥ ७ ॥

दृढवर्मणः कञ्चुकी विजयसेनं प्रति तदुक्तिं समर्थयन्नाह—सुखनिर्भर इत्यादि ।

भृत्यजनः = सेवकवर्गः, अन्यथापि = स्वाम्यादेशं विनापि, स्वामिनम् = प्रभुम्, अवलोक्य = दृष्ट्वा, सुखनिर्भरः = आनन्दपूर्णः, भवति = जायते । अरिबलविघटननिर्व्यूढप्रभुनियोगभरः—अरिबलस्य = शत्रुसैन्यस्य विघटनेन = विनाशेन, निर्व्यूढः = परिपालितः, प्रभोः = स्वामिनः, नियोगभरः = आदेशसमुदयो-येन सः (भृत्यजनः) । किं पुनः = सुखनिर्भरोभवेदिति किं वक्तव्यमित्यर्थः । आर्या जातिः ॥ ६ ॥

दृढवर्मणः कञ्चुकी वत्सराजाय प्रियं वृत्तं निवेदयति—हत्वेत्यादि ।

देवस्य = भवतः, समादेशात् = नियोगात्, रिपुजयिना = शत्रुञ्जयेन, विजयसेनेन कलिङ्गहतकम् = अधमं कलिङ्गं, हत्वा = व्यापाद्य, हीति निश्चये । अस्मत्स्वामी = दृढवर्मेत्यर्थः, राज्ये निवेशितः प्रतिष्ठापितः । आर्या जातिः ॥ ७ ॥

कञ्चुकी—विजयसेन, यह ठीक ही है । देखो—

वैसे भी भृत्यलोग स्वामी का दर्शन पाकर सुख निमग्न हो जाते हैं, फिर आपके सुख के लिये क्या कहा जाय । आप तो शत्रुसैन्य का विनाश कर स्वामी के महत्त्वपूर्ण आदेश का पालन कर चुके हैं ॥ ६ ॥

दोनों—(समीप जाकर) स्वामी की जय हो जय हो ।

(राजा दोनों को गले लगाते हैं)

कञ्चुकी—महाराज, आप को वधाई है ।

आप के आदेश से शत्रुञ्जय विजयसेन ने अभागे कलिङ्ग को मार कर हमारे स्वामी (दृढवर्मा) को राज्यासन पर बैठा दिया ॥ ७ ॥

वासवदत्ता—अयि भगवति, अभिजानास्येतं कञ्चुकिनम् ? (अइ भअवइ, अहिजाणासि एवं कञ्चुइणं ?)

साङ्कृत्यायनी—कथं नाभिजानामि। ननु स एषः, यस्य हस्ते मातृष्वसा ते पत्रिकामनुप्रेशितवती।

राजा—साधु। विजयसेनेन महाव्यापारोऽनुष्ठितः।

(विजयसेनः पादयोः पतति)

राजा—देवि, दिष्ट्या वर्धसे। प्रतिष्ठितो राज्ये दृढवर्मा।

वासवदत्ता—(सहर्षम्) अनुगृहीतोस्मि। (अणुग्गहिदह्मि)

विदूषकः—ईदृशेऽभ्युदयेऽस्मिन्राजकुल एतत्करणीयम्। (राजानं निर्दिश्य वीणावादनं नाटयन्) गुरुपूजा (आत्मनो यज्ञोपवीतं दर्शयन्) ब्राह्मणस्य सत्कारः। (आरण्यकां सूचयन्) सर्वबन्धनमोक्ष इति। (ईरिसे अब्भुदए अस्सिं राअउले एदं करणिज्जं। गुरुपूआ। ब्रह्मणस्स सक्कारो। सव्ववन्धणमोक्खोत्ति)

राजा—(अपवार्य छोटिकां ददत्) साधु वयस्य साधु।

वासवदत्ता—भगवति, क्या आप इस कञ्चुकी को पहिचान रही हैं ?

सांकृत्यायनी—कैसे न पहचानूंगी। अरे वही तो यह है जिसके हाथों तुम्हारी मौसी ने पत्रिका भेजी थी।

राजा—बहुत खूब। विजयसेन ने बड़ा भारी कार्य सम्पन्न कर डाला।

(विजयसेन चरणों पर गिरता है)

राजा—देवि, तुम्हें बधाई है। दृढवर्मा पुनः राज्यासीन हो गये।

वासवदत्ता—(सहर्ष) अनुगृहीत हूँ।

विदूषक—ऐसे अभ्युदय के समय इस राजकुल में यह होना चाहिए (राजा को निर्दिष्ट कर, वीणा वादन का अभिनय करता हुआ) गुरुपूजा। (अपना यज्ञोपवीत दिखाता हुआ) ब्राह्मण का सत्कार। (आरण्यका को सूचित करता हुआ) सभी की बन्धन से मुक्ति।

राजा—(केवल विदूषक को सुनाकर, चुटकी बजाता हुआ) ठीक है, मित्र ठीक है।

विदूषकः—भवति, कथं त्वं न किमप्यत्र समादिशसि। (होदि, कदं तुमं ण किं वि एत्थ समादिससि)

वासवदत्ता—(साङ्कृत्यायनीमवलोक्य सस्मितम्) मोचिता खलु हताशेनारण्यका। (मोइदा क्खु हदासेण आरण्णआ)

साङ्कृत्यायनी—किं वा तपस्विन्यानया बद्धया।

वासवदत्ता—यथा भगवत्यै रोचते। (जह भअवदीए रोअदि)

साङ्कृत्यायनी—यद्येवम्, अहमेव गत्वा तां मोचयिष्यामि।

(इति निष्क्रान्ता)

कञ्चुकी—इदमपरं संदिष्टं महाराजेन दृढवर्मणा—'त्वत्प्रसादात्सर्वमेव यथाभिलषितं संपन्नम्। तदेते प्राणास्त्वदीयाः। यथेष्टमिमान्विनियोक्तुं त्वमेव प्रमाणम्।' (राजा सलज्जमधोमुखस्तिष्ठति)

सांकृत्यायनीति। तपस्विन्या = वराक्या।

विदूषक—महारानी, क्यों इस विषय में आप कोई आदेश नहीं दे रही हैं?

वासवदत्ता—(सांकृत्यायनी की ओर देख कर, मुस्कराहट के साथ) इस निगोड़े ने आरण्यका को मुक्त करा दिया।

सांकृत्यायनी—उस वेचारी को वन्धन में रखने से क्या लाभ?

वासवदत्ता—जैसा आप चाहें।

सांकृत्यायनी—यदि ऐसा है तो मैं ही जाकर उसे मुक्त करूँगी।

(जाती है)

कञ्चुकी—महाराज दृढवर्मा ने यह दूसरा सन्देश दिया है—'आप की कृपा से सब मनोरथ पूरे हुए। अतः ये प्राण तुम्हारे हैं। इनका यथेष्ट विनियोग करने में आप को पूरा अधिकार है।' (राजा सलज्ज मुँह नीचे कर लेता है)

विजयसेन——देव, न शक्यमेव देवं प्रति प्रीतिविशेषं दृढवर्मणः कथयितुम् ।

कञ्चुकी——'यद्यपि तुभ्यं प्रतिपादितायाः प्रियदर्शिकाया अस्मद्दुहितुः परिभ्रंशान्न मे संबन्धो जात इति दुःखमासीत्, तथापि वासवदत्तायाः परिणेत्रापि त्वया तदपनीतमेव ।'

वासवदत्ता——(सास्रम्) आर्य कञ्चुकिन्, कथं मे भगिनी परिभ्रष्टा । (अज्ज कञ्चुई, कहं मे भइणी परिब्भट्टा)

कञ्चुकी——राजपुत्रि, तस्मिन्कलिङ्गहतकावस्कन्दे विद्रुतेष्वितस्ततोऽन्तःपुरजनेषु दिष्ट्या दृष्टाम् 'इदानीं न युक्तमत्र स्थातुम् इति तामहं गृहीत्वा वत्सराजान्तिकं प्रस्थितः । ततः संचिन्त्य तां विन्ध्य-

---

कंचुकीति । प्रतिपादितायाः = प्रदत्तायाः । परिभ्रंशात् = नाशात् । परिणेत्रा = वोढ्रा । अपनीतम् = दूरीकृतम् ।

वासवदत्तेति । भगिनी = प्रियदर्शिकेत्यर्थः । परिभ्रष्टा = नष्टा ।

कंचुकीति । कलिङ्गहतकावस्कन्दे——कलिङ्गहतकस्य अवस्कन्दे = आक्रमणे । अन्तःपुरजनेषु इतस्ततः विद्रुतेषु = पलायितेषु । दिष्ट्या = भाग्येन । ताम् =

विजयसेन——महाराज, आप की प्रति दृढवर्मा के प्रीति विशेष का वर्णन नहीं किया जा सकता है ।

कञ्चुकी——'यद्यपि हमारी कन्या प्रियदर्शिका आप को प्रदत्त की जा चुकी थी किन्तु उसके खो जाने से आप से मेरा सम्बन्ध नहीं हो सका, इसका दुःख था तथापि वासवदत्ता का परिणय करने से आप ने उस दुःख को भी दूर कर दिया ।

वासवदत्ता——(आँसू भर कर) आर्य कञ्चुकी, मेरी बहिन खो कैसे गयी ?

कञ्चुकी——राजपुत्रि, अभागे कलिङ्ग के आक्रमण करने पर जब अन्तःपुर के लोग इधर-उधर भाग गये, भाग्यवश मैंने प्रियदर्शिका को देख लिया 'इस समय इसका यहाँ रहना ठीक नहीं है'——ऐसा सोच कर उसे लेकर मैं वत्सराज के पास चल पड़ा । तदनन्तर सोच विचार कर उसे विन्ध्यकेतु के हाथ में सौंप

केतोर्हस्ते निक्षिप्य निर्गतोऽस्मि । यावत्प्रतीपमागच्छामि तावत्कैरपि तत्स्थानं सह विन्ध्यकेतुना स्मर्तव्यतां नीतम् ।

राजा—(सस्मितम्) विजयसेन, किं कथयसि ?

कञ्चुकी—तत्र चान्विष्यता मया न प्राप्ता । तदाप्रभृति नाद्यापि विज्ञायते क्व वर्तत इति ।

(प्रविश्य मनोरमा)

मनोरमा—भट्टिनि, प्राणसंशये वर्तते सा तपस्विनी । (भट्टिणि, पाणसंसए वट्टइ सा तवस्सिणी ।

वासवदत्ता—(सास्रम्) किं पुनस्त्वं प्रियदर्शनावृत्तान्तं जानासि? (किं उण तुमं पिअदंसणाउत्तान्तं जाणासि)

मनोरमा—न खल्वहं प्रियदर्शनावृत्तान्तं जानामि । एषा खल्वार-

प्रियदर्शिकाम् । प्रतीपमागच्छामि = प्रतिनिवृत्तोऽस्मि । स्मर्तव्यतां नीतम् = समाप्तिं नीतम् ।

राजेति । 'सस्मितम्' इति चूर्णकेन द्योतितं यद्राजा साभिप्रायं विजयसेनं पृच्छति । कञ्चुकिना यत्किमप्युक्तं तेन राज्ञा विज्ञातं यदारण्यकैव प्रियदर्शिकाऽस्ति ।

कर चला गया । बाद में जब तक वहाँ लौटकर वापस आया तब तक किन्हीं लोगों ने विन्ध्यकेतु सहित उस स्थान को विनष्ट कर दिया ।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) विजयसेन, क्या कहते हो (अर्थात् तुम्हारा क्या ख्याल है) ?

कञ्चुकी—वहाँ खोजने पर वह मुझे नहीं मिली । तब से आज तक मालूम नहीं हो सका कि वह कहाँ है ।

(मनोरमा प्रवेश करके)

मनोरमा—महारानी, उस बेचारी का जीवन खतरे में है ।

वासवदत्ता—(आँसू भर कर) क्या तुम प्रियदर्शना का वृत्तान्त जानती हो ?

मनोरमा—मैं प्रियदर्शना का वृत्तान्त नहीं जानती हूँ । यह आरण्यका

ण्यका कल्याव्यपदेशेनानीतं विषं पीत्वा प्राणसंशये वर्तत इत्येवं मया निवेदितम्। तत्परित्रायतां भट्टिनी। (ण हु अहं पिअदंसणा उत्तान्तं जाणामि। एसा क्खु आरण्णआ कल्लव्ववदेसेण आणीदं विस पाइअ पाणअसए वट्ठदित्ति एव्वं मए णिवेदिदं। ता परित्ताअदु भट्टिणी) (रुदती पादयोः पतति)

वासवदत्ता—(स्वगतम्) हा धिक् हा धिक्। प्रियदर्शनादुःखमपि मेऽन्तरितमारण्यकावृत्तान्तेन। अतिदुर्जनः खलु लोकः। कदाचिन्मामन्यथा संभावयिष्यति। तदेतदत्र युक्तम्। (प्रकाशं ससंभ्रमम्) मनोरमे, लघ्विहैवानय ताम्। नागलोकाद्गृहीतविषविद्य आर्यपुत्रोऽत्र कुशलः। (हद्धि हद्धि ! पिअदंसणादुक्खं वि मे अन्तरिदं आरण्णआउत्तन्तेण। अदिदुज्जणो क्खु लोओ। कदाइ मं अण्णहा सम्भावइस्सदि। ता एदं एत्थ जुतं। मणोरमे, लहु इह एव्व आणेहि तं। णाअलोआदो गहिदविसविज्जो अज्जउत्तो एत्थं कुसलो)

कल्याव्यपदेशेन = मदिराव्याजेन। 'कल्यं प्रभाते क्लीवं स्यात्…। उपायवचनेऽपि स्यात्त्रिषु मद्ये तु योषिति॥' इति मेदिनी।

वासवदत्तेति। प्रियदर्शनादुःखम्—प्रियदर्शना = प्रियदर्शिका तस्याः दुःखम् परिभ्रंशजन्यमिति भावः। आरण्यकावृत्तान्तं श्रुत्वा प्रियदर्शिकादुःखं विस्मृतमिति तदाशयः। मामन्यथा संभावयिष्यति—मया वासवदत्तयैव तस्यै विषं दत्तमिति तर्कयेत्। लघु = शीघ्रम्। गृहीतविषविद्यः—गृहीता प्राप्ता विषविद्या येन सः। अत्र = विषचिकित्सायाम्।

मदिरा के व्याज से दिये गये विष को पीकर जीवन के खतरे में है, ऐसा मैंने निवेदन किया है। अतः महारानी उसे बचायें।

वासवदत्ता—(मन ही मन) हाय! हाय! आरण्यका के वृत्तान्त ने मेरी प्रियदर्शना के दुःख को छिपा दिया (अर्थात् आरण्यका का वृत्तान्त सुन कर प्रियदर्शना के दुःख को मैं भूल गयी।) संसार बड़ा दुष्ट होता है। कदाचित् मुझे अन्यथा समझने लगे (कि देवी ने ही मदिरा व्याज से विष पिलाकर आरण्यका को मार डाला)। इसलिये यहाँ यह युक्त होगा। (प्रकट रूप में, घवड़ाहट के साथ) मनोरमे, जल्दी यहीं उसे ले आओ। आर्यपुत्र

[निष्क्रान्ता मनोरमा]

(ततः प्रविशति मनोरमया धृता सविषवेगमात्मानं नाटयन्त्यारण्यका)

आरण्यका–हला मनोरमे, कस्मादिदानीं मामन्धकारं प्रवेशयसि। (हला मणोरमे, कीस दाणिं मं अन्धआरं पवेसेसि)

मनोरमा—(सविषादम्) हा धिक् हा धिक्। दृष्टिरप्यस्याः संक्रान्ता विषेणैव। (वासवदत्तां दृष्ट्वा) भर्त्रि, लघु परित्रायस्व लघु परित्रायस्व। गुरुभूतमस्या विषम्। (हद्धि हद्धि। दिट्ठ वि से संकन्ता विसेणेव्व। भट्ठिणि, लहु परित्ताएहि। गुरुईभूदं से विसं)

वासवदत्ता—(ससंभ्रमं राजानं हस्ते गृहीत्वा) आर्यपुत्र, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। लघु विपद्यते खल्वेषा तपस्विनी। (अज्जउत्त उट्ठेहि उट्ठेहि।

आरण्यकेति। कस्मादिदानीमित्यादि—अधुना कस्मान्मामन्धे तमसि नयसि। दृष्टेर्विषसंक्रान्ततया समस्तजगतोऽन्धकाराच्छन्नत्वप्रतीतेस्तथोक्तिरिति ज्ञेयम्।

मनोरमेति। लघु = क्षिप्रम्। गुरुभूतम् = अत्यारूढम्।

वासवदत्तेति। लघु विपद्यते = शीघ्रमेवम्रियते। तपस्विनी = असहाया, वराकी।

नागलोक से विष-विद्या सीख आये हैं। वे इस विषय में कुशल हैं।

(मनोरमा जाती है)

(तदनन्तर मनोरमा द्वारा थामी गयी, अपने को विषवेग से प्रभावित प्रदर्शित करती हुई आरण्यका का प्रवेश)

आरण्यका—सखि मनोरमे' इस समय तुम मुझे अन्धकार में क्यों प्रविष्ट करा रही हो?

मनोरमा—(विषाद के साथ) हाय! हाय! इसकी आँखें भी विष से ही संक्रान्त हो रही है। (वासवदत्ता की ओर देखकर) महारानी, शीघ्र रक्षा करें शीघ्र रक्षा करें, इसका विष बहुत चढ़ गया है।

वासवदत्ता—(घबड़ाहट के साथ राजा का हाथ पकड़ कर) आर्यपुत्र, उठिये उठिये। यह बेचारी शीघ्र मरने वाली है।

लहु विवज्जइ क्खु एसा तवस्सिणी)

[सर्वे पश्यन्ति]

कञ्चुकी—(विलोक्य) सुसदृशी खल्वियं मम राजपुत्र्याः प्रियदर्शनायाः । (वासवदत्तां निर्दिश्य) राजपुत्रि, कुत इयं कन्यका ।

वासवदत्ता—आर्य, विन्ध्यकेतोर्दुहिता । तं व्यापाद्य विजयसेनेनानीता । (अज्ज, विञ्झकेउणो दुहिदा । तं वावादिअ विअसेणेण आणीदा)

कञ्चुकी—कुतस्तस्य दुहिता । सैवेय मम राजपुत्री । हा हतोऽस्मि , मन्दभाग्यः राजपुत्रि इयं सा प्रियदर्शिका भगिनी ते । (इति निपत्य भूमावुत्थाय)

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, परित्रायस्व परित्रायस्व । मम भगिनी विपद्यते । (अज्जउत्त, परित्ताएहि परित्ताएहि । मम भइणी विवज्जइ)

कंचुकीति । सुसदृशी = सर्वथा समाना । कुत इयं कन्यका—क्व प्राप्तेयं कन्यका ?

वासवदत्तेति । दुहिता = कन्या । तम् = विन्ध्यकेतुम् । व्यापाद्य=हत्वा ।

कंचुकीति । कुतस्तस्य दुहिता — विन्ध्यकेतोस्तु कापि कन्यैव नास्ति ।

(सभी देखते हैं)

कञ्चुकी—(देख कर) यह तो मेरी राजकुमारी प्रियदर्शना से बहुत समानता रखती है । (वासवदत्ता को निर्दिष्ट कर) राजपुत्रि, यह कन्या कहाँ से प्राप्त हुई है ?

वासवदत्ता—आर्य, यह विन्ध्यकेतु की पुत्री है । इसे विजयसेन उस (विन्ध्यकेतु) को मार कर ले आया था ।

कञ्चुकी—उसके, लड़की कहाँ से आगयी ? वही यह मेरी राजपुत्री है । हा मैं मन्दभाग्य मारा गया । राजपुत्रि, यह वही तुम्हारी बहन प्रियदर्शिका है । (भूमि पर गिर कर, फिर उठ कर)

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, रक्षा करो । मेरी बहिन मर रही है ।

राजा—समाश्वसिहि समाश्वसिहि। पश्यामस्तावत्। (स्वगतम्) कष्टं भोः कष्टम्।

सञ्जातसान्द्रमकरन्दरसां क्रमेण
पातुं गतश्च कलिकां कमलस्य भृङ्गः।
दग्धा निपत्य सहसैव हिमेन चैवा
वामे विधौ न हि फलन्त्यभिवाञ्छितानि ॥८॥

(प्रकाशम्) मनोरमे, पृच्छयतां तावत्किं ते बोध इति।

मनोरमा—सखि, किं ते बोधः। (सास्रं पुनश्चालयन्ती) सखि, ननु भणामि किं ते बोध इति। (सहि, किं दे बोधो सहि णं भणामि दे बोधोत्ति)

प्रियदर्शिका—(अविस्पष्टम्) नन्वेतयापि न मया महाराजो दृष्टः।

संजातेति। क्रमेण = क्रमशः, भृङ्गः = मधुपः, सञ्जातसान्द्रमकरन्दरसाम्—सञ्जातः = प्रकटीभूतः, सान्द्रः=घनः, मकरन्दरसो यस्यास्तादृशीम्, कमलस्य कलिकां पातुम्=आस्वादयितुम् गतश्च सहसैव हिमेन = तुषारेण निपत्य एषा = कमलकलिका दग्धा च। विधौ = दैवे, वामे = प्रतिकूलतां गते, अभिवाञ्छितानि = अभीष्टानि, न हि फलन्ति = न हि सिद्ध्यन्ति। अर्थान्तरन्यासः अप्रस्तुतप्रशंसा च। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८ ॥

प्रियदर्शिकेति। एतयापि=इमामवस्थां गतयापीत्यर्थः।

राजा—धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो। अभी देखता हूँ। (मन ही मन) कष्ट है कष्ट।

भृङ्ग क्रमशः प्रकटी भूत घन मकरन्द रस से युक्त कमलकली के रसास्वादन हेतु उसके पास ज्यों पहुँचा त्यों ही सहसा पाला पड़ने से कमलकली दग्ध हो गयी। भाग्य प्रतिकूल होने पर मनोरथ सफल नहीं हो पाते हैं ॥८॥

(प्रकट रूप में) मनोरमे, जरा इससे पूछो—'क्या तुम्हें होश है ?'

मनोरमा—सखि, क्या तुम्हें होश है ? (पुनः आँसू भर कर और हिला डुला कर) सखि, अरे पूछ रही हूँ कि क्या तुम को होश है ?

प्रियदर्शिका—(अस्पष्ट रूप में) अरे, इस अवस्था को प्राप्त होने पर भी मुझे महाराज का दर्शन नहीं हुआ।

(णं एदाए वि ण मए महाराओ दिट्ठो) (इत्यर्धोक्ते भूमौ पतति)

राजा—(सास्रं स्वगतम्)

एषा मीलयतीदमीक्षणयुगं जाता ममान्धा दिशः
कण्ठोऽस्याः प्रतिरुध्यते मम गिरो निर्यान्ति कृच्छ्रादिमाः ।
एतस्याः श्वसितं हृतं मम तनुर्निश्चेष्टतामागता
मन्येऽस्या विषवेग एव हि परं सर्वं तु दुःखं मम ॥ ९ ॥

वासवदत्ता—(सास्रम्) प्रियदर्शने, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । पश्यैष महा-

---

एषेति । एषा = प्रियदर्शिका, ईक्षणयुगम् = नेत्रद्वयम्, मीलयति = पिदधाति, मम दिशः अन्धाः=अन्धकाराच्छन्नाः जाताः । अस्याः कण्ठः प्रतिरुध्यते= विषवेगेनाव्रियते, मम इमाः गिरः = वाचः, कृच्छ्रात् = कष्टात्, निर्यान्ति = निर्गच्छन्ति । एतस्याः श्वसितम् हृतम् = श्वासः प्रतिरुद्धः, मम तनुः = शरीरम्, निश्चेष्टताम् = निर्व्यापारताम्, आगता = प्राप्ता । तत् मन्ये अस्या विषवेग एव, हि = निश्चयेन, परं सर्वं दुःखं तु मम—विषजनितसर्वदुःखं मम ।

अत्र नेत्र-मीलनं प्रियदर्शिकायाः, किन्तु दिशोऽन्धा जाता वत्सराजस्य । कण्ठप्रतिरोधः प्रियदर्शिकायाः, किन्तु वाङ्निर्गमे कष्टं वत्सराजस्य । तथा च श्वासनिरोधः प्रियदर्शिकायाः किन्तु तनोर्निश्चेष्टता वत्सराजस्य । इत्थं कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतयाऽसङ्गतिरलङ्कारः । उक्तं च तल्लक्षणं यथा—'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः' । इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

(यह आधी ही बात कहने पर भूमि पर गिर पड़ती है)

राजा—(आँसू भरकर, मन ही मन)

यह (प्रियदर्शिका) इन आखों को मूँद रही है, किन्तु मेरी दिशाएँ अन्धकार पूर्ण हो रही हैं । इसका कण्ठ अवरुद्ध हो रहा है किन्तु यह वाणी मेरी कष्ट से निकल रही है । साँस इसकी वन्द हो रही है और शरीर मेरा निश्चेष्ट हो रहा है मैं समझता हूँ कि इसे तो केवल विष का वेग है किन्तु सारा दुःख तो मुझे ही हो रहा है ॥ ९ ॥

वासवदत्ता—(आँसू भर कर) प्रियदर्शने, उठो उठो । देखो, यह

राजस्तिष्ठति । कथं वेदनाप्यस्या नष्टा। किमिदानीं मयापराद्धमजानत्या, येन कुपिता नालपसि । तत्प्रसीद प्रसीद । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । न खलु पुनरपरात्स्यामि । (ऊर्ध्वमवलोक्य) हा दैवहतक, किमिदानीं मयापकृतम्, येनैतदवस्थां गता मे भगिन्यादर्शिता । (प्रियदर्शिकाया उपरि पतति) (पिअदंसणे, उट्ठेहि । पेक्ख एसो महाराओ चिट्ठइ । कहं वेअणा वि से णट्ठा । किं दाणिं मए अवरज्झं अआणन्तीए, जेण कुविदा णालवसि । ता पसीद पसीद । उट्ठेहि उट्ठेहि । ण हु पुणो अवरज्झिस्सं । हा देव्वहदअ, किं दाणिं मए अवकिदं, जेण एदावत्थं गदा मे भइणी आदंसिदा)

विदूषकः—भो वयस्य, कथं त्वं मूढ इव तिष्ठसि । नेष विषादस्य कालः । विषमा खलु गतिर्विषस्य । तद्दर्शयात्मनो विद्याप्रभावम् । (भो वअस्स, कहं तुमं मूढो विअ चिट्टसि । ण एसो विसादस्स कालो । विसमा क्खु गई विसस्स । ता दंसेहि अप्पणो विज्जापहावं)

राजा—सत्यमेवैतत् । मूढ एवाहमेतावतीं वेलाम् । तदहमेनां जीवयामि । (प्रियदर्शिकामालोक्य) सलिलं सलिलम् ।

वेदना = चेतना । अपराद्धम् = अपराधः कृतः ।

विदूषक इति । मूढ इव तिष्ठसि = न कमप्युचारं करोषीत्यर्थः ।

महाराज खड़े हैं । क्यों, इसकी चेतना भी नष्ट हो चुकी है । अनजान में इस समय मैंने कौन सा अपराध कर दिया जिससे कुपित हो यह बोल नहीं रही है । तो प्रसन्न हो जाओ प्रसन्न हो जाओ । उठो उठो । फिर दुबारा अपराध नहीं करूंगी । (ऊपर देख कर) हा अधम दैव, मैंने तेरा क्या अपराध किया था जो इस अवस्था में पड़ी बहिन का तूने दर्शन कराया ।

विदूषक—अरे वयस्य, मूढ की तरह तुम खड़े क्यों हो ? यह विषाद का समय नहीं है । विष की गति भयानक होती है । तो अपनी विद्या का प्रभाव दिखाओ ।

राजा—यह सच ही है । इतने समय तक मैं मूढ ही बना रहा । तो मैं इसे अब जिला रहा हूँ । (प्रियदर्शिका को देख कर) पानी, पानी (लाओ)

विदूषकः—(निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) भोः एतत्सलिलम् । (भो, एदं सलिलम्)

[राजोपसृत्य प्रियदर्शनाया उपरि हस्तं निधाय मन्त्रस्मरणं नाटयति]

[प्रियदर्शिका शनैरुत्तिष्ठति]

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, दिष्ट्या प्रत्युज्जीविता मे भगिनी। (अज्ज-उत्त, दिट्ठिआ पच्चुज्जीविदा मे भइणी)

विजयसेन—अहो देवस्य विद्याप्रभावः।

कञ्चुकी—अहो सर्वत्राप्रतिहता नरेन्द्रता देवस्य।

प्रियदर्शिका—(शनैरुत्थायोपविश्य च जृम्भिकां नाटयन्ती सविषादम-विस्पष्टम्) मनोरमे, चिरं खलु सुप्तास्मि। (मणोरमे, चिरं खु सुत्तह्मि)

विदूषक—भो वयस्य, निर्व्यूढं ते वैद्यत्वम्। (भो वअस्स, णिव्वूढं दे वेज्जत्तणं)

कंचुकीति। अप्रतिहता = अनवरुद्धा। नरेन्द्रता = नृपत्वम्, विषवैद्यत्वं च। 'नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्ये च कथ्यते।' इति विश्वः।

विदूषक इति। निर्व्यूढम् = पूर्णतः प्रदर्शितम्।

विदूषक—(जाकर, पुनः लौट कर) अरे, यह पानी (लीजिए)

(राजा निकट जाकर, प्रियदर्शना के ऊपर हाथ रखकर, मन्त्र पढ़ने का अभिनय करता है)

(प्रियदर्शिका धीरे से उठती है)

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, सौभाग्य से मेरी बहिन पुनर्जीवन पा गयी।

विजयसेन—महाराज की विद्या का प्रभाव आश्चर्यजनक है।

कञ्चुकी—महाराज की नरेन्द्रता (नृपत्व और विषवैद्यत्व) सर्वत्र अप्रतिहत है, यह आश्चर्य का विषय है।

प्रियदर्शिका—(धीरे से उठ कर और बैठ कर, जँभाई का अभिनय करती हुई, विषाद के साथ अस्पष्ट स्वर में) मनोरमे, मैं बड़ी देर तक सोयी रह गयी।

विदूषक—अरे वयस्य, तुम्हारा वैद्यत्व सफल रहा।

[प्रियदर्शिका साभिलाषं राजानं निरूप्य सलज्जं किञ्चिदधोमुखी तिष्ठति]

वासवदत्ता—(सहर्षम्) आर्यपुत्र, किमिदानीमप्येषान्यथैव करोति। (अज्जउत्त, किं दाणिं वि एसा अण्णहेव्व करेदि)

राजा—(सस्मितम्)

स्वभावस्था दृष्टिर्न भवति गिरो नातिविशदा-
स्तनुः सीदत्येषा प्रकटपुलकस्वेदकणिका।
यथा चायं कम्पः स्तनभरपरिक्लेशजनन-
स्तथा नाद्याप्यस्या नियतमखिलं शाम्यति विषम् ॥१०॥

वासवदत्तेति। अन्यथैव करोति = प्रकृतिस्थेव न दृश्यत इति भावः।

राजेति। सस्मितम्—विषप्रभावे विनष्टेऽपि वत्सराजदर्शनजन्यसात्त्विकभावोदयात् प्रियदर्शिका विषप्रभावितेव समलक्ष्यत। द्वयोरपि स्थित्योः समलक्षणतया वासवदत्ता तु तद्रहस्यमजानती प्रियदर्शिकामधुनापि विषप्रभावान्वितामेवामन्यत, कुशलो वत्सराजस्तद्रहस्यं सम्यगवगत्य सस्मितमाह—

स्वभावस्थेत्यादि। यथा दृष्टिः, स्वभावस्था—स्वभावे तिष्ठतीति स्वभावस्था न भवति गिरः = वाचः, नातिविशदाः = न सुस्फुटाः, प्रकटपुलकस्वेदकणिका—प्रकटाः = स्पष्टं दृश्यमानाः पुलकाः = रोमाञ्चाः स्वेदकणिकाश्च यस्यां तादृशी एषा तनुः = शरीरम्, सीदति = क्लान्ता भवति। स्तनभरपरिक्लेशजननः—स्तनभरस्य परिक्लेशजननः = पीडाकरः अयम् = लक्ष्यमाणः कम्पश्च, तथा (अनुमीयते) अद्यापि = इदानीमपि नियतम् = अवश्यमेव,

---

(प्रियदर्शिका साभिलाष राजा को देख कर लज्जा से मुँह नीचे कर लेती है)

वासवदत्ता—(सहर्ष) आर्यपुत्र, क्यों अब भी यह दूसरी ही तरह कर रही है (अर्थात् पूर्णतया स्वस्थ नहीं मालूम होती है) ?

राजा—(मुस्कराहट के साथ)

इसकी आखें अभी प्रकृतिस्थ नहीं हो सकी हैं, वाणी अत्यन्त स्पष्ट नहीं है, इसके शरीर में रोमाञ्च तथा पसीने की बूंदे स्पष्ट दिखायी दे रही हैं और वह श्रान्तक्लान्त हो रहा है, स्तनभार को पीडा पहुंचाने वाला कम्पन

कञ्चुकी—(प्रियदर्शिकां निर्दिश्य) राजपुत्रि, एष ते पितुराज्ञाकरः। (इति पादयोः पतति)

प्रियदर्शिका—(विलोक्य) कथं कञ्चुक्यार्यविनयवसुः। (सास्रम्) हा तात, हा मातः। (कहं कञ्चुई अज्जविणअवसू। हा ताद, हा अज्जूए)

कञ्चुकी—राजपुत्रि, अलं रुदितेन। कुशलिनौ ते पितरौ। वत्सराजप्रभावात्पुनस्तदवस्थमेव राज्यम्।

वासवदत्ता—(सास्रम्) एह्यलीकशीले। इदानीमपि ते भगिनीस्नेहं दर्शय। (कण्ठे गृहीत्वा) इदानीं समाश्वस्तास्मि। (एहि अलिअसीले। दाणिं वि दे भइणिआसिणेहं दंसेहि। दाणि समस्सत्तम्मि)

अस्याः = प्रियदर्शिकायाः अखिलं विषं न शाम्यति—अस्या विषं साकल्येन नोपशमं गतम्। शिखरिणी वृत्तम् ॥ १० ॥

कंचुकीति। राजपुत्रि = प्रियदर्शिके ! एषः, अहमिति शेषः। ते = तव। पितुः = दृढवर्मण इत्यर्थः। आज्ञाकरः = भृत्यः।

वासवदत्तेति। अलीकशीले—अलीकम् = असत्यम्, शीलम् स्वभावो यस्याः साऽलीकशीला तत्सम्बुद्धौ अलीकशीले = असत्यस्वभावे। प्रियदर्शिका

भी हो रहा है। इन लक्षणों से मालूम होता है कि निश्चयरूप से इसका विष पूर्णरूप में अब भी शान्त नहीं हुआ है ॥ १० ॥

कंचुकी—(प्रियदर्शिका को निर्दिष्ट कर) राजपुत्रि, यह मैं तुम्हारे पिता का सेवक हूँ। (ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है)

प्रियदर्शिका—(देख कर) क्या कञ्चुकी आर्य विनयवसु हैं। (आँसू भर कर) हा पिता जी ! हा माता जी !

कंचुकी—राजपुत्रि, रोओ मत। तुम्हारे माता-पिता सकुशल हैं। वत्सराज के प्रभाव से राज्य भी फिर अपनी पहिली अवस्था को पहुँच गया है।

वासवदत्ता—(आँसू भर कर) अरी छलिया स्वभाव वाली ! आ अब तो बहिन का सा अपना स्नेह दिखा। (गले से लगा कर) अब मैं आश्वस्त हुई।

विदूषकः—भवति, त्वं भगिनीं गृहीत्वा कण्ठ एवं परितुष्टासि। वैद्यस्य पारतोषिकं विस्मृतम्। (होदि, तुमं भइणिं गेह्णिअ कण्ठे एव्वं परितुट्ठासि। वैदिअस्स पारिदोसिअं विसुमरिदं)

वासवदत्ता—वसन्तक, न विस्मृतम्। (वसन्तअ, ण विसुमरिदं)

विदूषकः—(राजानं निर्दिश्य सस्मितम्) वैद्य, प्रसारय हस्तम्। भगिन्या अग्रहस्तं ते पारितोषिकं दापयिष्यामि। (वैदिअ, पसारेहि हत्थं। भइणीए अग्गहत्थं दे पारिदोसिअं दाविस्सं)

[राजा हस्तं प्रसारयति। वासवदत्ता प्रियदर्शिकाहस्तमर्पयति]

राजा—(हस्तमुपसंहृत्य) किमनया। संप्रत्येव कथमपि प्रसादितासि।

वासवदत्ता—कस्त्वमगृहीतुम्। प्रथममेव तातेनेयं दत्ता। (को तुमं अगेण्हिदुं। पुढमं एव्व तादेण इयं दिण्णा)

इयन्तं दीर्घकालं वासवदत्तासमीपे वसन्त्यपि न ह्यात्मानं दृढवर्मणः कन्यारूपेण सूचितवतीतिमनसि निधाय वासवदत्ता तत्सम्बोधने 'अलीकशीले' इति पदं प्रयुक्तवतीति बोध्यम्।

विदूषक—महारानी आप तो बहिन को गले लगाकर इस तरह प्रसन्न हो रही हैं कि वैद्य का पारितोषिक भी भूल गयीं।

वासवदत्ता—वसन्तक, भूली नहीं हूँ।

विदूषक—(राजा को निर्दिष्ट कर, मुस्कराहट के साथ) वैद्य जी, हाथ फैलाइए। बहिन का हाथ तुमको पारितोषिक रूप में दिलाऊँगा।

(राजा हाथ फैलाता है। वासवदत्ता प्रियदर्शिका का हाथ अर्पित करती है।)

राजा—(अपना हाथ सिकोड़ कर) इसे लेकर मुझे क्या करना है? अभी-अभी तो किसी तरह मैं आप को प्रसन्न कर सका हूँ।

वासवदत्ता—ग्रहण न करने में तुम कौन? इसके पिता ने इसे पहिले ही तुम्हें प्रदान किया था।

विदूषकः—भोः माननीया खलु देवी। मास्याः प्रतिकूलं कुरु।
(भो माणणीआ क्खु देवी। मा से पडिऊलं करेहि)

[वासवदत्ता राज्ञो हस्तं बलादाकृष्य प्रियदर्शिकामर्पयति]

राजा—(सस्मितम्) देवी प्रभवति। कुतोऽस्माकमन्यथा कर्तुं विभवः।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, अतोऽपि परं किं ते प्रियं क्रियताम्।
(अज्ज उत्त, अदो वि परं किं दे पिअं करीअदु)

राजा—किमतः परं प्रियम्। पश्य।

निःशेषं दृढवर्मणा पुनरपि स्वं राज्यमध्यासितं
त्वं कोपेन सुदूरमप्यपहृता सद्यः प्रसन्ना मम।
जीवन्ती प्रियदर्शना च भगिनी भूयस्त्वया संगता
किं तत्स्यादपरं प्रियं प्रियतमे यत्साम्प्रतं प्रार्थ्यते ॥ ११ ॥

राजेति। प्रभवति = सर्वथा समर्थाऽस्ति। विभवः = सामर्थ्यम्।

निःशेषमिति। दृढवर्मणा पुनरपि निःशेषम् = सकलम्, स्वम् = आत्मनीनम्, राज्यम्, अध्यासितम् = अधिष्ठितम्, कोपेन सुदूरम् अपहृता = अपनीता, समधिकरुष्टेत्यर्थः, त्वम् = वासवदत्ता, सद्यः = तत्क्षणम्, मम = ममोपरि, प्रसन्ना। प्रियदर्शना = प्रियदर्शिका भगिनी स्वसा च भूयः पुनः, त्वया

विदूषक—अरे, देवी का सम्मान होना चाहिए। इनके प्रतिकूल कुछ मत करो।

(वासवदत्ता राजा का हाथ बलपूर्वक खींच कर
प्रियदर्शिका को अर्पित करती है)

राजा—(मुस्कुराहट के साथ) देवी सर्वथा समर्थ हैं। हमारी क्या शक्ति है कि उनकी मर्जी के खिलाफ कुछ करें।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इससे भी बढ़कर आप का क्या प्रिय करें?

राजा—इससे बढ़ कर क्या प्रिय होगा? देखो—

दृढवर्मा को पूरा अपना राज्य मिल गया, क्रोध के कारण तुम मुझसे बहुत दूर खिंच चुकी थीं किन्तु तत्क्षण मुझ पर प्रसन्न हो गयीं। तुम्हारी बहिन

तथापीदमस्तु ।

[भरतवाक्यम्]

उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन्वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः ।

सङ्गता = मिलिता । तत् प्रियतमे ! अपरम् = अतो भिन्नम् किं प्रियं स्याद्यत् साम्प्रतं प्रार्थ्यते । पूर्णानि सर्वाण्यभीप्सितान्यधुना न किञ्चिदवशिष्यत इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ११ ॥

भरतवाक्यम्—रूपकेषु निर्वहणसन्धेश्चतुर्दशाङ्गेषु 'काव्यसंहारः' 'प्रशस्तिश्चेति द्वे अन्तिमे अङ्गे स्तः । रूपकस्यान्ते 'अतोऽपि परं किं ते प्रियं क्रियताम्' इत्यादिवाक्यरूपेण काव्यसंहारयोजना क्रियते । तदनन्तरमेव भरतवाक्यरूपेण प्रशस्तियोजना क्रियते । प्रशस्तिः शुभशंसना । 'नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते' इति साहित्यदर्पणकारः । इयं शुभशंसनात्मिका प्रशस्तिरभिनयसमाप्तौ भरतेन (नटेन) समुपस्थाप्यते तस्माद्भरतवाक्यमित्यभिधीयते ।

तदेव निबध्नाति—**उर्वीमित्यादि** । वासवः = इन्द्रः, इष्टाम् = अभिलषिताम्, वृष्टिम् विसृजन् = मुञ्चन्, कुर्वन्नित्यर्थः, उर्वीम् = पृथ्वीम्, उद्दामसस्याम् – उद्दामानि = उत्कटानि, समधिकानीत्यर्थः, सस्यानि धान्यानि यस्यां तादृशीम्, जनयतु = करोतु । विप्रमुख्याः = द्विजश्रेष्ठाः, विधिवत् = शास्त्रोक्तविधिनेत्यर्थः, इष्टैः = यज्ञैः, (नपुंसके भावे क्तः) त्रैविष्टपानाम् – त्रिविष्टपं स्वर्गस्तत्र भवास्त्रैविष्टपाः ('तत्र भवः' इत्यण्) देवाः, तेषाम् प्रीणनम् = प्रसादनम्, विदधतु = कुर्वन्तु । सज्जनानां सङ्गतिश्च = मैत्री चेत्यर्थः, आक-

प्रियदर्शना पुनरुज्जीवन प्राप्त कर तुम्हें फिर मिल गयी । इससे बढ़कर और प्रिय क्या हो सकता है जिसकी अब प्रार्थना की जाय ? ॥ ११ ॥

तथापि यह हो—

[भरत वाक्य]

अभीष्ट वृष्टि कर इन्द्र पृथ्वी को समधिक सस्य सम्पन्न करें । ब्राह्मण लोग विधिवत् यज्ञों से देवगण को सन्तुष्ट करें । सज्जनों की मैत्री प्रलयकाल पर्यन्त सुस्थिर एवं समृद्ध हो और दुर्जनों की असह्य और वज्रलेप की तरह (मन में

आकल्पान्तं च भूयात्स्थिरसमुपचिता संगतिः सज्जनानां
निःशेषं यान्तु शान्ति पिशुनजनगिरो दुःसहा वज्रलेपाः ॥१२॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति चतुर्थोऽङ्कः ।

—:०:—

ल्पान्तम् = प्रलयकालपर्यन्तम्, स्थिरसमुपचिता – स्थिरा = दृढा चासौ समुपचिता = सम्यग्वृद्धा च, भूयात् । दुःसहाः = सोढुमशक्याः, वज्रलेपाः—वज्रलेपसदृश्य इत्यर्थः, मनसि दृढं निविश्योद्वेगकारिण्य इति भावः । पिशुनजनगिरः = खलजनवाचः, निःशेषम् = साकल्येन, शान्ति यान्तु । स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १२॥

इति कल्याण्याख्यायां प्रियदर्शिकाव्याख्यायां चतुर्थोऽङ्कः ।



अत्यन्त निविष्ट होकर उद्वेग जनक) उक्तियाँ पूर्णरूपेण शान्ति को प्राप्त हों ॥ १२ ॥

(सब का प्रस्थान)

चतुर्थ अङ्क समाप्त



समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।



हिन्दी नोट्स (टिप्पणी)

प्रथम अङ्क

पृष्ठ १ श्लोक १—धूम०्याकुलितेति । यह मङ्गलश्लोक है । कवि ने क्रम से दो मङ्गलपद्य निवद्ध किये हैं । ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गल किया जाना चाहिए । यह मङ्गल तीन प्रकार का होता है—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक (आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्) । यहाँ दोनों मङ्गलश्लोकों को आशीर्वादात्मक ही जानना चाहिए । यद्यपि कवि ने अपने वाक्कौशल से वर्ण्यवस्तु की भी हलकी-सी झलक दिखा दी है किन्तु वह कवि का रचना-नैपुण्य ही समझा जाय । वर्ण्यवस्तु की हलकी-सी झलक इस प्रकार समझी जाय–जिस प्रकार विवाह के समय गौरी की आँखें, होमार्थ तथा विवाहसाक्ष्यसम्पादनार्थ प्रस्तुत अग्नि के धूमपटल से व्याकुल हो गयीं, उसी प्रकार प्रस्तुत नाटिका की नायिका प्रियदर्शिका को अपने पिता दृढवर्मा की विपत्ति से विषाद हुआ । किन्तु जिस प्रकार पार्वती की आँखें शिव के भाल में स्थित चन्द्र की किरणों से आह्लादित हो गयीं उसी प्रकार प्रियदर्शिका भी विन्ध्यकेतु का आश्रय पाकर मुदित हुई । जिस प्रकार पार्वती को वर के दर्शन से उत्सुकता हुई उसी प्रकार संयोगवश वत्सराज का दर्शन पाकर प्रियदर्शिका को भी उससे मिलने की उत्सुकता हुई । जैसे पार्वती ने ब्रह्मा को देख कर उनके सामने लज्जा से मुँह नीचे कर लिया वैसे ही प्रियदर्शिका भी अपनी सखी मनोरमा के सामने लज्जावश अपना आशय प्रकट करने में असमर्थ रही । जैसे पार्वती को शिव के सिर पर स्थित गङ्गा को देख कर ईर्ष्या हुई-वैसे ही गर्भनाटक में वासवदत्ता की भूमिका का सम्पादन करने वाली आरण्य का (प्रियदर्शिका) को देख कर वासवदत्ता के हृदय में असूया-भाव का उदय हुआ । जिस प्रकार पार्वती का शरीर शिव के स्पर्श से रोमाञ्चित हो गया उसी प्रकार प्रियदर्शिका को भी वत्सराज के साथ विवाह हो जाने से हर्ष हुआ । द्वितीय श्लोक के

अनुसार जैसे रावण द्वारा कैलास पर्वत उठा लिये जाने पर शिव के गण आश्चर्यचकित हो गये और कर्त्तिकेय भयवश माँ की गोद में छिप गये उसी प्रकार कलिङ्गराज के आक्रमण से दृढवर्मा का राज्य नष्ट हो गया और अन्तः-पुर के लोग इधर-उधर भाग गये। जैसे शिव ने पृथ्वी पर पैर रोप दिया तो रावण का शरीर अशक्त हो गया और पाताल की अतल कन्दरा में जाने लगा, वैसे ही वत्सराज के सैनिकों ने आक्रमण कर कलिङ्गराज को दुर्ग का आश्रय लेने के लिए विवश कर दिया। जेसे क्रुद्ध होने पर भी, पार्वती द्वारा आलिङ्गित शिव प्रसन्न हो गये, वैसे ही वत्सराज पर क्रुद्ध वासवदत्ता दृढवर्मा को पुनः राज्य मिल जाने पर प्रसन्न हो गयी और प्रिदर्शिका को उसने वत्सराज के हाथ में समर्पित कर दिया।

पृष्ठ ३ नान्द्यन्ते—नान्दी के अन्त में अर्थात् मङ्गलाचरण की समाप्ति होने पर। **'नान्दी'** यह नाटक का पारिभाषिक शब्द है। नाटक के आरम्भ में मङ्गलाचरण के लिए निवद्ध मङ्गलश्लोक को 'नान्दी' कहते हैं। नान्दी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'नन्दयति देवान् स्तुत्या, आनन्दयति च सभ्यान् स्तुतदेवप्रसादादिति नान्दी।' 'रङ्ग अथवा नाटचमण्डप की विघ्न-शान्ति या मङ्गलाशंसा के लिए नाटच प्रयोग के पहिले 'नान्दी गायन' को नाटचचार्यों ने अनिवार्य वताया है क्योंकि अधिकाधिक विघ्न शान्ति का सम्बन्ध 'नान्दी गायन' के ही साथ है। (तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशा-न्तये)। नान्दी का स्वरूप अथवा लक्षण—

आशीर्वचनसंयुक्ता—स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥
माङ्गल्यशङ्ख--चन्द्राब्ज–कोक--कैरव–शंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिश्च पदैरुत॥

अर्थात् नान्दी देव, द्विज, नृप आदि को वह स्तुतिगीति है जिसमें सामा-जिकों की शुभाशंसा का अभिप्राय गर्भित रहा करता है। 'नान्दी' के लिए यह अपेक्षित है कि उसके द्वारा शङ्ख, चन्द्र, कमल, चक्रवाक, कैरव आदि माङ्गलिक वस्तुओं की अभि व्यञ्जना हो जाय।'नान्दी' द्वादशपदा' भी हो सकती है 'अष्टपदा' भी।

प्रस्तुत नाटिका में मङ्गलाचरण के लिए प्रयुक्त दो श्लोक नान्दी के रूप में निवद्ध हैं। दोनों पद्यों में क्रमशः गौरी और शिव की स्तुति की गयी है। दोनों पद्यों में रङ्ग–सामाजिकों की शुभाशंसा का अभिप्राय गर्भित है और इन्दु पद के द्वारा माङ्गलिक वस्तु की अभिव्यञ्जना भी है। दो पद्यों में प्रतिपादित यह नान्दी अष्टपदात्मिका है क्यों कि श्लोक पाद का भीं पदशब्द से व्यवहार होता है (श्लोकपादः पद केचित्)।

नान्दीपाठ सूत्रधार करता है या अन्य कोई नट, इस विषय में मतभेद है। कतिपय विद्वानों का मत है कि नान्दीपाठ किसी अन्य नट का कर्त्तव्य है, क्यों कि ऐसा मानने से ही 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' की सङ्गति ठीक वैठती है। नाटयाचार्य भरत का मत है कि नान्दीपाठ सूत्रधार का ही कर्त्तव्य है (सूत्रधारः पठेन्नान्दीम्)। वस्तुतः नान्दीपाठ सूत्रधार का कर्त्तव्य है और नान्दी की समाप्ति पर कथावस्तु की अवतारणा भी वही करता है। नान्दी के पहिले उसका नामोल्लेख अमङ्गल से वचने के लिए ही नहीं किया जाता है। ग्रन्थारम्भ मङ्गलपद्य से ही होना चाहिए।

पृष्ठ ५ सूत्रधारः—नाट्योपकरण आदि को सूत्र कहते हैं। सूत्रं धारयतीति सूत्रधारः, 'कर्मण्यण्' इससूत्र से अण्प्रत्यय। 'नाटयोपकरणादीनि सूत्र मित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः।' कतिपय लोगों का मत है कि नाटकीय कथासूत्र की प्रथम सूचना देने वाला सूत्रधार कहलाता है—

'नाटकीयं कथा—सूत्रं प्रथमं येन सूच्यते।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते।'

पृष्ठ ५ वसन्तोत्सवे—वसन्त के पुनरागमन के उपलक्ष्य में यह उत्सव प्राचीनकाल में चैत्रपूर्णिमा के दिन मनाया जाता था। उसी दिन कामदेव की भी पूजा वहुत सज-धज के साथ की जाती थी, अतः इस उत्सव को मदनोत्सव भी कहा जाता था। आजकल यह फाल्गुनपूर्णिमा के दिन मनाया जाता है जिसे 'होली' कहते हैं।

सबहुमानम्—बहुमानेन सह यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषण) आदर के साथ। आहूय = पास बुला कर। आ + ह्वे + ल्यप्।

पृष्ठ ५-६—प्रियदर्शिका नाम नाटिका प्रियदर्शिका इस नाटिका की नायिका का वास्तविक नाम है। अभेदोपचार से नाटिका भी 'प्रियदर्शिका' कहलाती है। सहित्यदर्पण में कहा गया है—

नाटिकासट्टकादीनां नायिकाभिविशेषणम्। (६।१४३)

अर्थात् नाटिका और सट्टक आदि का नाम नायिका के नाम पर रखना चाहिए। जैसे 'रत्नावली' 'कर्पूरमञ्जरी' आदि।

कुछ लोग इस नाम की उपपत्ति इस प्रकार करते हैं—प्रियदर्शिका नाम नायिका को अधिकृत करके की गयी नाटिका प्रियदर्शिका कही जाती है। प्रियदर्शिका शब्द से 'तदधिकृत कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से अण् प्रत्यय होकर उसका 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इस वार्तिक से लुप् हो जाता है। इस वार्तिक में आख्यायिका पद को सामान्यतः काव्यपरक मानने से यहां इसकी प्रवृत्ति हुई है। 'न लुमताङ्गस्य' इस सूत्र से प्रत्ययलक्षण का निषेध होने से वृद्धयादि आङ्गकार्य नहीं हुए। नाटिका की संज्ञा होने से स्त्रीत्व उपपन्न हुआ।

उपपत्ति का यह प्रकार समीचीन नहीं है क्यों कि यहां अण् के लुब्विधान के लिए 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' वार्तिक में आख्यायिका पद को सामान्यतः काव्यपरक मानना पड़ता है जब कि तत्त्वबोधिनीकार इसे गद्यरूपग्रन्थ विशेष परक ही मानते हैं—

'आख्यायिका नाम गद्यरूपो ग्रन्थविशेषः। अत एवाख्यानाख्यायिकयोस्तत्र तत्र भेदेनोपादानम्।' अतः यहां इस वार्तिक की प्रवृत्ति न हो सकेगी। अभेदोपचार का ही आश्रय समीचीन है। तत्त्वबोधिनीकार तो आख्यायिका ग्रन्थों के लिए भी इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं समझते—'अभेदोपचारेण गतार्थत्वान्नेदं वार्तिकमावश्यकम्।'

नाटिका—उपरूपक का एक भेद है। साहित्यदर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

'नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥

स्यादन्तःपुरसम्वद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा ।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
देवी भवेत् पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः (६।२६९-२७२)

अर्थात् नाटिका वह उपरूपक है—

(१) जिसका वृत्त कविद्वारा कल्पित हुआ करता है।

(२) इसमें स्त्री-चरित ही अधिकाधिक चित्रित हुआ करते हैं।

(३) इसका चार अङ्कों में समाप्त होना आवश्यक है।

(४) इसका नायक प्रख्यात राजवंश का, धीरललित प्रकृतिवाला कोई राजा होता है।

(५) इसकी नायिका को नायक के अन्तःपुर से सम्वद्ध होना अथवा संगीत कला में निपुण होना, राजकुलोत्पन्न होना तथा नवानुरागवती कन्या होना आवश्यक है।

(६) नायक राजा का नायिका के प्रति रतिभाव देवी अथवा राजमहिषी के भय से आवृत रूप से ही प्रकाशित किया जाया करता है।

(७) देवी अथवा राजरानी ज्येष्ठ, प्रगल्भ और राजकुलोत्पन्न होती है जो पग पग पर मान करती चित्रित की जाती है और जिसकी अनुकम्पा पर ही नायक-नायिका का प्रेम- मिलन वर्णित हुआ करता है।

(८) इसमें कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य रहा करता है और अंशमात्र विमर्श-सन्धि के साथ सन्धि-चतुष्टय की रचना हुआ करती है !

वस्तुतः 'नाटिका' नामक उपरूपक की रचना 'नाटक' और 'प्रकरण' के वैचित्र्यसम्मिश्रण से हुआ करती है। 'प्रकरण' की भाँति इसकी 'इति-वृत्त-रचना का कल्पित होना आवश्यक होता है और नाटक की भाँति राकुलो-त्पन्न नायक की रचना और चर्चा से 'नाटिका' की रूप-रेखा बना करती है। भरतमुनि ने कहा है—

'प्रकरणनाटकभेदादुत्पन्नं वस्तु नायको नृपतिः ।
अन्तःपुरसंगीतककन्यामधिकृत्य कर्त्तव्या ॥
स्त्रीप्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी ।
बहुनृत्तगीतवाद्या रतिसम्भोगात्मिका चैव ॥
राजोपचारयुक्ता प्रसादनक्रोधदम्भसंयुक्ता ।
नायकदेवीदूतीसपरिजना नाटिका ज्ञेया ॥'

श्रोत्रपरम्परया = कर्णाकर्णिकया, कानोंकान, अर्थात् लोगों के मुँह से।

प्रयोगतः = अभिनय द्वारा। नेपथ्यरचनाम् = वेषपरिग्रह। नेपथ्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। जैसे—(१) पर्दा (२) पर्दे के पीछे का स्थान जहाँ पात्र वेष धारण करते हैं। (३) सजावट (४) वेष भूषा (विशेष कर नाटक के पात्रों की)। यहाँ नेपथ्य शब्द का अर्थ 'वेषभूषा' है। आवर्जितानि = आकृष्ट। सामाजिकमनांसि = दर्शकों के हृदय।

पद्य ३—हारि = हर्तुं शीलमस्य, हृदयग्राही। 'चरित' का विशेषण होने से नपुंसकलिङ्ग। वत्सराज० = वत्सानां राजेति वत्सराजः (षष्ठी तत्पुरुष)। वत्सराज का अभिप्राय 'उदयन' से है, जो वत्सदेश का राजा था। उदयन सोमवंशी राजा सहस्राङ्क का पुत्र था। प्रस्तुत नाटिका का नायक उदयन हीं है। यह श्लोक साहित्यदर्पण और दशरूपक में भारती वृत्ति के अङ्ग 'प्ररोचना' के उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है। 'उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना।' अर्थात् रूपक अथवा रूपककार आदि की महिमा के सङ्कीर्तन के द्वारा सामाजिकों की मनोरञ्जनात्मक प्रवृत्ति को प्रस्तुत अभिनय के प्रति आकृष्ट करना 'प्ररोचना' है।

पृष्ठ ८, (नेपथ्याभिमुखम्)—नेपथ्य की ओर। यहाँ नेपथ्य का अर्थ वह स्थान है जहाँ रङ्गमञ्च के समीप पर्दे के पीछे नट लोग अपनी वेषभूषा धारण किया करते हैं।

'कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते।' कुशीलवाः नटाः, तेषां कुटुम्बस्य बृन्दस्य स्थलं वेषपरिग्रहस्थानं नेपथ्यम्।

कञ्चुकिनो भूमिकां कृत्वा—कञ्चुकी का रूप ग्रहण कर। कञ्चुकी—कञ्चुकः अस्त्यस्येति कञ्चुकी (कञ्चुक + इनि)। कञ्चुक कहते हैं लम्बे चोगे को। उसे पहिनने वाला व्यक्ति कञ्चुकी कहलाता है। वह राजा के अन्तःपुर में विविध कार्यों को सम्पन्न करने के लिए नियुक्त होता था। वह जाति से ब्राह्मण, वृद्ध और सर्वगुण-सम्पन्न होता था। उसको पहिनने के लिए राजा की ओर से कञ्चुक (लम्बा चोगा) दिया जाता था।

नाट्यशास्त्र प्रणेता के शब्दों में—

'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकायार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते।'

पृष्ठ ९, अप्रतिहतशक्तित्रयस्य—जिसकी तीनों शक्तियाँ कभी बाधित न हुई हों, सदा सर्वथा अपने उद्देश्य में सफल रहीं हों। न प्रतिहतं शक्तित्रयं यस्य तादृशस्य। राजा की तीन शक्तियाँ—(१) प्रभाव या प्रभुशक्ति—सामर्थ्यशाली सैन्य और अतुल कोष की शक्ति। 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्' (अमर कोष)। (२) मन्त्रशक्ति—नीतिकुशल मन्त्रिमण्डल की अभ्युदित शक्ति। (३) उत्साह शक्ति—राजा की अपनी उत्साह रूप व्यक्तिगत शक्ति।

पृष्ठ १०, बद्धानुशयेन—बद्धः = दृढं कृतः, अनुशयः = कोपः येन तादृशेन, जिसने गहरा कोप किया हो उससे। लब्धरन्ध्रेण—लब्धम् = प्राप्तम्, रन्ध्रम् = छिद्रम्, अवसर इति यावत् येन तादृशेन, जिसे अवसर मिल गया हो। कलिङ्ग ने सोचा कि वत्सराज बन्धन में होनेके कारण दृढवर्मा की सहायता के लिए पहुँच नहीं सकता, अतः यह आक्रमण का अच्छा मौका है। एकान्तनिष्ठुरम् = अत्यन्त क्रूर। आटविकस्य = अटव्यां भवः आटविकः, (अटवी + ठक्) वन प्रदेश पर शासन करने वाला। निपत्य = सहसा आक्रमण कर (नि + √पत् + ल्यप्)। दस्युभिः—आततायियों द्वारा। बन्धनात् परिभ्रष्टः—बन्धन से मुक्त।

पृष्ठ ११, प्रद्योततनयाम्—प्रद्योतनाम्नो नृपस्य तनयाम् = वासवदत्तामित्यर्थः। प्रद्योत उज्जयिनी के राजा थे। इन्हें महासेन या चण्डमहासेन भी कहते थे। वासवदत्ता इन्हीं की पुत्री थी।

कौशाम्बीम्—कुशाम्बेन निर्वृत्तेति कौशाम्बी ताम्। कुशाम्ब शब्द से 'तेन निर्वृत्तम्' इस सूत्र से अण् होकर स्त्रियां ङीप् होने पर कौशाम्बी पद निष्पन्न हुआ। कौशाम्बी वत्स देश की राजधानी थी। कौशाम्बी कभी बड़ी आकर्षक नगरी थी जिसके स्थान पर आज एक साधारण सा गाँव विद्यमान है।

पृष्ठ ११-१२, जीवितशेषम्—जीवितस्य = जीवनस्य, शेषम् = अवशिष्ट-भागम् (ष० त०) = जीवन के अवशिष्ट भाग को। सफलयिष्यामि = सफलं करिष्यामि। सफल शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्। ततः लृट्। यह नाम धातु है। सफल शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे' सूत्र से णिच् होने पर लृट् लकार उत्तम पुरुष एक वचन का रूप है।

विष्कम्भकः—किसी भी अङ्क के आदि में आने वाला वह भाग है जिसमें भूत या भविष्यत् के ऐसे कथा भागों की सूचना दी जाती है जिनका निबन्धन अङ्क में इस कारण से नहीं होता कि वे या तो रञ्जक नहीं हैं अथवा एक दिन में अभिनय के लिए असंभवनीय होते हैं। इसके दो प्रकार हैं—(१) शुद्ध विष्कम्भक—इसमें मध्यम प्रकृति के एक अथवा दो पात्रों के द्वारा भूत अथवा भावी वृत्तान्तों की सूचना दी जाती है। (२) मिश्र अथवा संकीर्ण—इसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों द्वारा भूत और भावी घटनाएँ सूचित की जाती हैं।

"वृत्तावर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः।
शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥"

(सा० द० ६।५५-५६)

पृष्ठ १२, श्लोक ५ घनबन्धनेत्यादि—इस श्लोक में 'घनबन्धनमुक्तः' इत्यादि शब्द श्लिष्ट हैं। घनबन्धनमुक्तः—(१) रविपक्ष में मेघों के उपरोध से मुक्त (२) वत्सराज पक्ष में—प्रद्योत नृपकृत दृढ बन्धन से मुक्त। कन्या ग्रहणात् परां तुलां प्राप्य—(१) कन्याराशि के प्रवेश के बाद तुलाराशि पर

पहुंच कर। (२) कन्या = प्रद्योततनया वासवदत्ता को ग्रहण करने से परम (तुला) प्रकर्ष को प्राप्त होकर। अधिगतस्वधामा—(१) अपने (धाम) तेज को प्राप्त कर। (२) अपने (धाम) गृह को प्राप्त कर।

पृष्ठ १३—राजा = नाटिका का नायक वत्सराज उदयन।

विदूषक—संस्कृत नाटकों में विदूषक शृङ्गारी नायक के सहायक रूप में चित्रित किया जाता है।

विदूषक का लक्षण—

'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः॥'

(साहित्यदर्पण, ३।४२)

अर्थात् विदूषक का नाम किसी फूल अथवा वसन्त आदि पर रक्खा जाता है। वह अपने कर्म, अपने शरीर, अपने वेष और अपनी बोल-चाल आदि के द्वारा औरों को हँसाने की क्षमता रखता है। उसे दूसरों से झगड़ने में आनन्द मिला करता है और वह अपने हँसोड़पन के कार्य में कुशल हुआ करता है।

पृष्ठ १३, श्लोक ६—राजा प्रद्योतकृत अपने अस्थायी बन्धन को एक वरदान-सा समझ कर, सन्तोष का अनुभव करता हुआ अपने बन्धन के शुभ परिणामों का वर्णन इस श्लोक में कर रहा है।

अविकारिता—विकारोऽस्त्येषामिति विकारिणः (विकार शब्द से 'अत इनिठनौ' इस सूत्र से 'इनि' प्रत्यय) न विकारिण इत्यविकारिणस्तेषां भावः अविकारिता = ईमानदारी, स्वामी के प्रति पूर्ववत् निष्ठा रखना। परिगता = जान ली। निर्व्यूढा = (निर् + वि + √वह् + क्त + टाप्) पूरी की गयी। रणसाहसव्यसनिता = रणे यत् साहसं तत्र या व्यसनिता = आसक्तिः, रण में साहस दिखाने का शौक। निर्व्याजात् = निष्कपट भाव से।

पृष्ठ १४, दास्याः पुत्रम्—यह एक प्रकार की गाली है। 'दास्याः' पद में षष्ठी को 'षष्ठ्याआक्रोशे' इस सूत्र से अलुक् होने पर ही निन्दा ध्वनित होती है।

पृष्ठ १५, श्लोक ७—चारकम् = कारागार। अन्धकारगहनम् = अन्धकारेण गहनम्, अन्धकार से भयानक। निगलस्वनेन = वेड़ी की खनखनाहट से। वन्धनरक्षिणः = कारागार के पहरेदार। स्निग्धाः = स्नेहपूर्ण।

पृष्ठ १६, सुखनिबन्धनम् = सुख का साधन। अमात्यः—अमा (सह) वर्तत इत्यमात्यः = मन्त्री 'अमेहक्वतसित्रेभ्य एव' इस वार्तिक से 'अमा' शब्द से 'त्यप्' होकर 'अमात्यः' पद निष्पन्न होता है।

पृष्ठ १७, प्रतीहारभूमिम्—जहाँ ठहर कर दर्शनार्थ राजा की अनुमति की प्रतीक्षा की जाती है।

पृष्ठ १७, श्लोक ८—निष्क्रान्ता = बाहर निकले हुए। शङ्कमाना = डरते हुए।

पृष्ठ १८, प्रसादात् = अनुग्रह से। तुरगः = घोड़ा। अध्वानम् = मार्ग को। दिवसत्रयेण = तीन (ही) दिनों में (अपवर्गे तृतीया)। अतर्किता एव = न सोचा हुआ, अप्रत्याशित ही।

पृष्ठ १९, अस्मद्बल तुमुलकलकलाकर्णनेन—हमारी सेना की तुमुल ध्वनि को सुनने से। शोभितम् = वहुत अच्छा किया।

पृष्ठ २०, श्लोक ९—पादातम् = पैदल सेनाको। उरःपेषमात्रेण = छाती से ही मसल कर। अश्वीयम्—(अश्व + छ) घोड़ों के समूह को।

पृष्ठ २१, श्लोक १०—बलत्रितयम् = तीनों प्रकार के सैन्य को। सैन्य के तीन प्रकार—हाथी, घोड़ा और पैदल सेना।

पृष्ठ २२—व्रीडिताः = लज्जित। (√व्रीड् + क्त)। एक को वहुत से लोगों ने मिलकर मारा यह लज्जा की वात है।

पृष्ठ २३,—वेश्मनि = घर में। आभिजात्यानुरूपा—सत्कुल में उत्पन्न होने के अनुरूप। वैतालिकः—विविधेन तालेन चरतीति वैतालिकः=चारणः, (वि + ताल + ठक्) राजा लोगों के घरों में नियुक्त गायक को वैतालिक कहा जाता है। इसका काम राजा को कर्त्तव्य का समय वताना है। जैसे, राजा सो रहा है किन्तु उठने का समय हो गया है तो वैतालिक राजा को

कीर्ति को दृष्टि में रखता हुआ कुछ ऐसा गायेगा कि राजा शय्या का त्याग कर देगा। राजा कार्य में बहुत व्यस्त है। स्नान या भोजन का समय बीत रहा है। उस समय वैतालिक कुछ ऐसा गा देता है कि राजा सब काम-काज छोड़कर स्नान या भोजन के लिए चल पड़ता है।

पृष्ठ २४, श्लोक ११—स्नानीय = स्नानोपयुक्तगन्धचूर्ण आदि। विभ्रमवती = वाराङ्गना। आयास = श्रम। अंशुक = वस्त्र। शातकुम्भ = सुवर्ण।

पृष्ठ २५, श्लोक १२—अर्कांशु = सूर्यकिरण। शफर = एक प्रकार की छोटी मछली का नाम है। उद्वर्तन = उछलना। दीर्घिका = वापी। शिखी = मयूर। बर्हभार=मयूर की पूंछ। आलवाल = वृक्षों के मूलभाग के चारों ओर वृत्ताकार बनाया गया घेरा। कर्णपालीम् = श्रोत्रपुट। इति प्रथम अङ्क।

द्वितीय अङ्क

पृष्ठ २७, उपवासनियमस्थिता = उपवासव्रतपरायणा। स्वस्तिवायननिमित्तम्--स्वस्तिवाचन के लिए दिया जाने वाला (वायन) मिष्ठान्न का उपहार स्वस्तिवायन कहा जाता है उसके निमित्त।

शब्दापयेत = बुलाएँ। शब्दस्य आपम् = प्रापणम्, करोतीति शब्दापयति विधिलिङ् प्रथम पुरुष के एक वचन में 'शब्दापयेत्'। 'शब्दाययेत्' ऐसा भी पाठ मिलता है। शब्दं करोति शब्दायते, 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' इति क्यङ्। उसके णिजन्त में विधिलङ् प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है—शब्दाययेत् = बुलवाएँ। धारागृहोद्यानदीर्घिकायाम् = धारागृहयुक्तमुद्यानम् धारागृहोद्यानम्, तत्र या दीर्घिका वापी तस्याम्। धारागृह उस स्नानागार को कहते हैं जिसमें स्नान की सुविधा के लिए फव्वारा लगा रहता है। कुकुटवादम् = दम्भपूर्वक धार्मिक अनुष्ठानों से स्वार्थ सिद्ध करना। यहाँ वेद का ज्ञान न रखते हुए भी दम्भाथ उसके उच्च स्वर से पाठ करने से अभिप्राय है। प्रतिग्रहम् = दानग्रहण।

पृष्ठ २८, श्लोक १—क्षामाम् = कृश शरीर वाली। मङ्गलमात्रमण्डनभृतम्—वासवदत्ता उपवासनियमपरायण है अतएव उसने सभी अलङ्कारों

को हटा दिया है। उसने केवल मण्डन के रूप में मङ्गलसूत्र को ही धारण कर रक्खा है क्योंकि उसे सौभाग्यसूचक होने के कारण हिन्दू स्त्री व्रतादि में भी त्यागना उचित नहीं समझती। मङ्गलसूत्र उस शुभ डोरा को कहते हैं जिसे सौभाग्यवती स्त्रियाँ तब तक अपने गले में पहिने रहती हैं जब तक उनका पति जीवित है।

पृष्ट ३१—अविरत = निरन्तर। शिलातलोत्सङ्ग = पक्की भूमि का मध्य प्रदेश। परिमल = सुगन्ध। निलीन = छिपा हुआ। भग्न = टूटा हुआ। उद्दाम = उत्कट। पर्यवबुद्ध = विकसित। बन्धूक = एक प्रकार का लाल फूल। इसे देशी भाषा में 'उड़हुल' कहते हैं।

तमाल—एक वृक्ष का नाम है। इसकी छाल काली होती है।

पृष्ठ ३२, श्लोक २—प्रवाल = मूँगा। शेफालिका = एक प्रकार का पुष्प जिसकी सुगन्ध मधुर होती है किन्तु अधिक देर तक टिकती नहीं। शेफाः शयनशालिनोऽलयो यत्र (ब० स०) शेफालि + ङीष् + कन् + टाप्। सप्तच्छद = एक प्रकार का पुष्प-वृक्ष। इसे देशी भाषा में 'छतिवन' कहा जाता है। गज-मदामोद—हाथी के मस्तक से बहने वाला जल, मद कहलाता है, उसकी सुगन्ध। उन्निद्र = खिला हुआ। पिङ्ग = हल्का पीला। अव्यक्तवाचः = अस्पष्ट भाषी। मधुलिहः = भौंरे।

पृष्ठ ३२– अविरल = सतत। सप्तपर्णपादपः = छतिवन नामक वृक्ष।

पृष्ठ ३३, श्लोक ३—शाद्वलैः = शाद कहते हैं नयी या हरी घास को। 'शादाः सन्त्यत्र' इस विग्रह में शाद शब्द से 'नड शादाड्ड्वलच्' (पा० ४।२।८८) सूत्र से ड्वलच् (वल) प्रत्यय होने से शाद्वल शब्द निष्पन्न होता है। नयी नयी कोमल घासों से युक्त।

इन्द्रगोपक—एक प्रकार का लालवर्ण का कीट विशेष जो वर्षाऋतु में दिखायी पड़ता है। इसे 'वीरबहूटी' या 'वीरवधूटी' कहते हैं।

पृष्ठ ३४, आरण्यका—प्रस्तुत नाटिका की नायिका प्रियदर्शिका का दूसरा नाम है। आरण्यका के स्थान पर कतिपय विद्वान् 'आरण्यिका' पाठ

शुद्ध मानते हैं। उनके अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अरण्ये भवा आरण्यिका। 'अरण्यान्मनुष्ये' इस सूत्र से वुञ् (अक) ततः टाप्, 'प्रत्ययस्थात्कात्०' इस सूत्र से इत्व। अस्ताभिलाषिणा—अस्ताचल को जाने वाला।

लघु = शीघ्र। अवचित्य = चुन कर, अव + √ चि ल्यप् (य)। तपस्विनी = बेचारी।

पृष्ठ ३५—आज्ञप्तिः = आदेश। महार्घम् = उच्च। लघूकृतः = लघुता को प्राप्त कराया।

पृष्ठ ३७, श्लोक ४—हंसस्वनः—हंसों का शब्द। ह्राद = शब्द। विवर = छिद्र। सौधपाली = प्रसादमाला। घ्राणसौख्यम् = नाक को आनन्द। बहुविकल्पेयम् = इसके विषय में नाना प्रकार के तर्क हो रहे हैं।

पृष्ठ ४२—आसितव्यम् = रहना होगा। (√आस् + तव्य)।

पृष्ठ ४२—मुषिताः = ठगे गये। निर्दोषदर्शना कन्यका खल्वियम् = राजा के कहने का अभिप्राय है कि कन्या को देखना धर्मशास्त्र के विरुद्ध नहीं है। कन्या का विवाह हो जाने पर वह परायी स्त्री हो जाती है। दूसरे की स्त्री को देखना अधर्म है किन्तु कन्या किसी की स्त्री तो होती नहीं अतः उसे देखने में धार्मिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से दोष नहीं है। विस्रब्धम् = इतमीनान से। असंबद्धप्रलापिन्या—आरण्यका ने इन्दीवरिका के प्रति इस प्रकार से अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की है। एक उच्चकुल की हिन्दू कन्या से जब कोई स्त्री उसके विवाह की चर्चा छेड़ती है तब यह स्वाभाविक बात है कि वह कन्या उसके प्रति क्रोध व्यक्त करती है और लज्जित भी होती है। आभिजात्यम् = कुलीनता।

पृष्ठ ४४, श्लोक ७—अच्छिन्न = निरन्तर। पयोधरपट = (१) स्तन पर का वस्त्र। (२) मेघ रूप आवरण। मुकुली भवन्ति = संकुचित होते हैं। पद्माः = कमल। यद्यपि कोशों में पद्म शब्द को पुंलिङ्ग कहा गया है तथापि कवियों ने इस शब्द का प्रयोग सदैव नपुंसकलिङ्ग में किया है अतः यहाँ पद्म शब्द को

पुंलिङ्ग प्रयुक्त करने से पदगत अप्रयुक्तत्व दोष है। 'अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् ।' यथा 'भाति पद्मः सरोवरे।'

पृष्ठ ४५—आयासयन्ति = तंग कर रहें हैं। गर्भदास्याः सुता = गर्भादारभ्य दासीति गर्भदासी तस्याः गर्भदास्याः- जन्म से ही दासी की पुत्री (इन्दीवरिका) 'षष्ठ्या आक्रोशे' इस सूत्र से षष्ठी का अलुक् होने से निन्दा ध्वनित होती है।

तूष्णीकः = चुपचाप। कुवलय = नीलकमल। आक्रन्दसि = जोर से पुकार रही हो। अति शिशिरतया = अत्यन्त ठंडा होने से। ऊरुस्थम्भः = जाँघों का गतिहीन होना।

पृष्ठ ५१—अलीक-पाण्डित्य-दुर्विदग्धतया = मिथ्या बुद्धिमत्ता के अभिमान से। निर्भर्त्स्य = डाँट डपट कर (निर् + √भर्त्स + ल्यप्)।

पृष्ठ ५२—समाश्वासनम् = तसल्ली देना। सहस्ररश्मिः = सहस्रं रश्मयः किरणा यस्य सः (बहुव्रीहि) सूर्य।

तृतीय अङ्क

पृष्ठ ५४ सांकृत्यायन्या = सांकृत्यायनीके द्वारा। नर्तितव्यशेषम् = जो भाग अभिनीत होने से रह गया है। कौमुदीमहोत्सव = आश्विनमास की पूर्णिमा (शरत्पूर्णिमा) की रात में मनाया जाने वाला उत्सवविशेष। शून्यहृदयया = शून्यमन्यविषयगतं हृदयं यस्याः सा शून्यहृदया तया, अन्यमनस्क। वासवदत्ता—भूमिकया = वासवदत्ता का अभिनय करने वाली। उपालप्स्ये = उलाहना दूँगी। विस्रब्धजल्पितानि = स्वच्छन्दतापूर्वक कही गयी बातें।

पृष्ठ ५६—शोभनदर्शनः = शोभनं दर्शनं यस्य सः, मनोरम रूप वाला। अभागधेयता = दुर्भाग्य। सह्यवेदनम् = सह्या सोढुं शक्या वेदना यस्य तत्, जिसको पीड़ा सहने योग्य हो। हृदयनिर्विशेषा = अभिन्न, जिससे कोई बात छिपायी न जाय।

पृष्ठ ५९—देवीगुणनिगडनिबद्धे— आरण्यका के कहने का अभिप्राय है कि राजा देवी (वासवदत्ता) के गुणरूप बेड़ी से जकड़ा है। वह वासवदत्ता में बुरी

तरह आसक्त है तो फिर वह मेरी ओर क्यों ध्यान देगा। कमलिनीवद्धानुरागः = कमलिनी में जिसका अनुराग दृढ़ हो चुका है। अभिनवरसास्वाद लम्पटः = सर्वथा नये रस के आस्वादन के लिए लोलुप। स्थितिं करोति = चैन से रह सकता है।

पृष्ठ ६०—लज्जालुके = लज्जां लाति आदत्ते इति लज्जालुः, सैव लज्जालुका, तत्सम्वोधने लज्जालुके! 'मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से डु प्रत्यय कर, 'अनुकम्पायाम्' इस सूत्र से क प्रत्यय, स्त्रीत्वविवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय होने पर 'लज्जालुका' पद निष्पन्न होता है।

पृष्ठ ६१— अविस्रम्भशीले = विश्वास न करने वाली। निश्वासनिभविनिर्गतः = निश्वास के व्याज से वाहर निकल कर प्रकट होने वाला।

पृष्ठ ६३—पार्श्वपरिवर्ती = साथ रहने वाला।

पृष्ठ ६४—गुरुमदनसन्तापनिस्सहस्य = अत्यधिक कामपीडा को सहने में असमर्थ।

अस्वस्थ वचनेन = पर्याकुल उक्ति से। करतलस्पर्शद्विगुणितसुखशीतलानि— कमलिनी के पत्र स्वभावतः सुखद एवं शीतल होते हैं। आरण्यका के पाणि-सम्पर्क से वे राजा के लिए दूने सुखद और शीतल सिद्ध होंगे। इसी उद्देश्य से राजा ने उन नलिनी पत्रों को ले आने के लिए विदूषक से कहा था।

पृष्ठ ६८—प्रेक्षागृहम् = रङ्गशाला। आश्रयगुणः—जिसको आधार वना कर नाटक रचा गया है उस नायक का गुण है अर्थात् नाटकगत इस विशेषता के हेतु केवल नायक के गुण हैं।

पृष्ठ ७०, श्लोक ८—प्रेक्षणीयता = शोभा। शातकुम्भ सुवर्ण। मौक्तिकदाम = मोतियों की माला। विजिताप्सरोभिः—विजिताः = स्वस्वरूप-तिरस्कृताः, अप्सरसः याभिस्ताभिः, अपने स्वरूप से अप्सराओं को तिरस्कृत करने वाली।

पृष्ठ ७१—अतिक्रान्ता = वीत चुकी। मदङ्गपिनद्धैः—मेरे शरीर पर धारण किये गये। नलगिरिग्रहणपरितुष्टेन--कहा जाता है कि प्रद्योत के पास एक नलगिरि नामक मत्त गजेन्द्र था। एक दिन सहसा वह अपना बन्धन तोड़

कर भाग चला और नगर में उसने वह उपद्रव किया कि त्राहि-त्राहि मच गयी। उस समय प्रद्योत ने उदयन को अपने वीणावादन के कौशल से मुग्ध कर उस गजराज को पकड़ने के लिए कहा। उदयन की सफलता पर प्रद्योत अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

पृष्ठ ७३——दण्डनीत्या——(१) डण्डे को ग्रहण करने से। (२) वह विद्या जिसकी सहायता से राज्य का शासन चलाया जाता है। "आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्च शाश्वती। विद्यास्त्वेताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः॥"

पृष्ठ ७४——प्रेक्षा——अभिनय, खेल।

पृष्ठ ७५——नितम्बफलक = विस्तृतनितम्ब प्रदेश। शिञ्जान = शब्दायमान। हारापादितकान्तिभिः = हार से सुशोभित। सवलयैः = कङ्कणयुक्त। सस्वस्तिकैः——स्वस्तिक नामक अलङ्कार से युक्त अथवा स्वस्तिक एक प्रकार का मङ्गलद्रव्यविशेष है, उससे युक्त।

पृष्ठ ७६——चिरयति = देर कर रहा है। चित्रेण भावितः——आश्चर्य से युक्त। सदृशाः सदृशे रज्यन्ते——सब को अपने समान जन से प्रसन्नता होती है। इसी से मिलता-जुलता वचन अभिज्ञान शाकुन्तल के पञ्चम अङ्क में भी आया है——'सर्वः स्वगणे ('सगन्धे इति वा) विश्वसिति, यतो द्वे एव युवामारण्यके।'

पृष्ठ ७७——नवतन्त्रीसज्जया = नये तारों से युक्त। घोषवत्या = घोषवती नामक वीणा से, अर्थात् आप अपनी घोषवती वीणा को नये तारों से सुसज्जित किये रहिए। विसर्जय = भेजो।

पृष्ठ ७८——ग्लपयन्ति = म्लान बनाते हैं।

पृष्ठ ७९——तच्चरितेनैव सर्वं शिक्षितव्यम् = उनके अपने चरित से ही सब सीखना होगा। अभिप्राय है कि राजा अपना चरित जानते ही हैं। कब कैसा अभिनय करना होगा इसका पता उन्हें अपने चरित के द्वारा ही हो जायगा। विना किसी निर्देश के भी वे अपना पार्ट आसानी से अदा कर सकेंगे और उसमें कोई त्रुटि नहीं होगी। इस प्रकार से 'राजा स्वयं अभिनय कर रहा है'—इस रहस्य का भी ज्ञान किसी को न होगा।

पृष्ठ ८१—निभृतेन = चुपचाप।

उद्देश्यः = बात-चीत का सन्दर्भ। यदि वीणां वादयन्नपहरति मां वत्सराजः, अवश्यं बन्धनान्मुञ्चामि = यदि वीणा बजाते हुए वत्सराज मुझे (वासवदत्ता को) हर लें (१–मुग्ध २–अपहृत कर लें) तो मैं (प्रद्योत) उसे अवश्य बन्धन से मुक्त कर दूँ। यहाँ वासवदत्ता का 'अपहरति' पद से मुग्ध करने से अभिप्राय है जब कि राजा उसका अभिप्राय 'अपहरण' करना समझता है।

वस्तुतः यह प्रद्योत की उक्ति ज्यों की त्यों उद्धृत की गयी है, इसी लिए उसका क्रिया पद 'मुञ्चामि' है और उसके अनन्तर 'इति' पद भी जुड़ा है। 'मुञ्चामि' उत्तम पुरुष की क्रिया है और उसका कर्ता अहं (प्रद्योत) है तब वाक्यगत 'माम्' पद से वासवदत्ता का बोध नहीं। 'प्रद्योत' का ही ग्रहण होना चाहिए और 'अपहरति' का अर्थ 'मुग्धं करोति' होना चाहिए। अब आशय हुआ–वीणावादनकौशल से यदि वत्सराज मुझ (प्रद्योत) को मुग्ध (आश्चर्य-चकित) कर दे तो मैं (प्रद्योत) उसे अवश्य बन्धन मुक्त कर दूँ।

इस आशय का समर्थन अगले (पृ० ८२ के) श्लोक के 'सपरिजनं प्रद्योतं विस्मयमुपनीय वादयन्वीणाम्' अंश से भी होता है।

उसी छठें श्लोक में 'वासवदत्तामवरामि' यह वत्सराज की उक्ति पूर्वोक्त-वचनगत 'अपहरति माम्' के आशय से गर्भित नहीं है बल्कि यौगन्धरायणकृत वासवदत्ता हरण की योजना जो राजा के मस्तिष्क में प्रविष्ट थी वही 'अपहरति' क्रियापद के श्रवणमात्र से राजा के मुख से 'वासवदत्तामपहरामि' के रूप में फूटी पड़ी।

पृष्ठ ८२—पटाक्षेपेण = पर्दा हटाकर। 'पटाक्षेपेण' इस शब्द का प्रयोग नाटक में उस समय किया जाता है जब किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के आ पड़ने पर नया पात्र रङ्गमञ्च के पर्दे को उठाये जाने की प्रतीक्षा न कर, स्वयं हाथ से पर्दे के किनारे को जरा-सा हटा कर प्रवेश करता है। ग्रथितं बन्धाति = गाँठ बाँधता है (यहाँ भाव में क्त प्रत्यय है)। किसी अवश्य करणीय काम की याद बनी रहे इसके लिए आदमी चादर आदि की छोर में गाँठ बाँध

लेता है। उस गाँठ को देख कर उस काम की याद पड़ जाती है। गाँठ बाँध लेने से भूलने का अन्देशा नहीं रहता है। इसी आधार पर 'गाँठ बाँध लेना' मुहाविरा भी प्रचलित हो गया है। सुसंविहितम् = अपहरण के वाद मार्ग में किसी प्रकार का क्लेश न हो इसके लिए सारा प्रबन्ध कर लिया है।

पृष्ठ ८३, श्लोक ७—नयनोत्सवास्पदम् = नेत्रों को आनन्ददायक। सत्त्वम् = वल, पराक्रम। सान्द्रजलदह्लादानुकारी—घनघोर मेघ की ध्वनि के समान।

पृष्ठ ८४—नीलोत्पलदाम्ना = नीलकमल की माला से। निगलनम् = वन्धन।

पृष्ठ ८५—वहुमता = प्रेमपात्र। निष्पादितम् = पूरा कर दिया। मानसम् = (१) मानसरोवर (२) मन। राजहंस = (१) राजहंस नामक पक्षी (२) नृपश्रेष्ठ।

पृष्ठ ८६—न ददासि स्वप्तुम् = तू सोने नहीं देती है। इस प्रकार के प्रयोग साहित्यग्रन्थों में प्रायः मिलते हैं। यथा—'वाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि'॥ (अभिज्ञानशाकुन्तल ६।२४) 'लज्जैव वक्तुं न ददौ।' (कादम्वरी)

पृष्ठ ८७, श्लोक १०—इस पद्य में सङ्गीतशास्त्र के कतिपय पारिभाषिक शब्द आये हैं जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

व्यञ्जनधातुः—व्यञ्जयति विशेषानिति व्यञ्जनः। धातुः वाद्यवादनरीतिः। वाजा वजाने की रीति को 'धातु' कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है-विस्तार, करण, आविद्ध और व्यञ्जन। उनमें व्यञ्जन के दस प्रकार होते हैं-कल, तल, निष्कोटित, उन्मृष्ट, रेफ, अवमृष्ट, पुष्प, अनुस्वनित, विन्दु और अनुवन्ध।

'विस्तारः करणश्चैव ह्याविद्धो व्यञ्जनस्तथा।
चत्वारो धातवो ज्ञेया वादित्रकरणाश्रया॥'
'व्यञ्जनधातुर्ज्ञेयः कलतलनिष्कोटितान्यथोन्मृष्टम्।
रेफावमृष्टपुष्पानुस्वनितं विन्दुरनुवन्धः॥' (नाटचशास्त्र)

लयः—'तालान्तरालवर्ती कालो लयः।' तालों के बीच के समय को 'लय' कहते हैं। इसके तीन प्रकार होते हैं-द्रुत, मध्य और विलम्बित।

'तालान्तरालवर्ती यः कालो लय उच्यते।
त्रिविधः स च विज्ञेयो द्रुतो मध्यो विलम्बितः ॥'

यतिः—तालानां विरामो यतिः। तालों के विराम को 'यति' कहते हैं। इसके भी तीन भेद होते है-समा, स्रोतोवहा और गोपुच्छा--

'तालच्छन्दोविरतिविषये वाद्यते यो विरामः
वाद्यैर्हीनः श्रवणसुभगो नामतः सा यतिः स्यात्।

× × × ×

'समा स्रोतोवहा चैव गोपुच्छा चेति सा त्रिधा।'

वाद्यविधिः—बजाने के ढंग को 'वाद्यविधि' कहते हैं। इसके भी तीन भेद होते हैं–तत्व, ओघ और अनुगत—

'त्रिविधं वैणवं वाद्यं कर्त्तव्यं गीतसंश्रयं तज्ज्ञैः।
तत्त्वं तथानुगतमोघश्चानेक - करण - संयुक्तम् ॥'

इस पद्य में शास्त्रीयगान और वाद्यविधान का वर्णन कर कवि ने अपनी सङ्गीतशास्त्र-विषयक प्रवीणता प्रदर्शित की है। संगीत का इतना सूक्ष्म ज्ञान न रखने वाले सर्वसाधारण के लिए यह स्थल कुछ दुरूह अवश्य हो गया है। यह पद्य इसी कवि की कृति 'नागानन्द' नाटक में भी (१।१५) मिलता है।

पृष्ठ ८९—उपाध्यायपीठिकायाम्–उपाध्याय के आसन पर। शिष्यविशेषा= श्रेष्ठशिष्या। शिष्येषु विशेषा श्रेष्ठा। प्रकृष्टार्थक विशेष शब्द का प्रयोग तीनों लिङ्गों में होता है। देखिए-रघुवंश (१।३७) (२।७) (६।५) कुमार सम्भव (५।३१) किरात० (९।५८)। इसी प्रकार आकृतिविशेषाः 'उत्तम-रूप', अतितिविशेषः 'पूज्य अतिथि' आदि।

पृष्ठ ९२ श्लोक, ११—अवश्याय = पाला, हिम। व्यतिकर = सम्बन्ध, सम्पर्क। ह्लादित्वम् = आह्लादकता। वीतातप = आतपरहित। स्वेदापदेशात् = पसीने के व्याज से। स्यन्दते = वह रहा है।

पृष्ठ ९३, श्लोक १२—विद्रुमपल्लव = प्रवालकिसलय। रागः = (१) अनुराग (२) रक्तिमा।

पृष्ठ ९४, गान्धर्वो विवाहः—आठ प्रकार के विवाहों में गान्धर्व विवाह की भी गणना है जो वर-कन्या की इच्छामात्र से सम्पन्न होता है। मनुका वचन है—

'इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयः......................॥'

पृष्ठ ९५--बोधयित्वा = जगा कर। मूर्खवटुकेन—मूर्ख छोकरा अर्थात् लोकव्यवहार से अनभिज्ञ।

अन्यथैव बुद्ध्वा सर्वमाकुलीकृतम्—मनोरमा की इस उक्ति का अभिप्राय है कि महारानी ने तो इस उद्देश्य से मेरे (मनोरमा के) विषय में पूछा कि कहीं मनोरमा ने ही राजा को अपने स्थान पर अभिनय करने की अनुमति तो नहीं दे दी। किन्तु इस मूर्ख बुद्धू वसन्तक ने रानी की पृच्छा को एक सामान्य प्रश्न-सा समझ लिया और वास्तविकता का पता लगाने की चतुराई को जान न पाने के कारण 'मनोरमा चित्रशाला में है' ऐसा बताकर बना बनाया सब मामला चौपट कर दिया।

पृष्ठ ९६—मूर्खनिर्घोषान्तरितः--मूर्ख (वसन्तक) की आवाज में दब गया और किसी ने नहीं सुना। किन्तु यह पाठ समीचीन नहीं है क्योंकि मूर्ख वसन्तक का ही निर्देश होता है यदि मनोरमा की आवाज, वसन्त की ऊँची आवाज में विलीन हो गयी तो वसन्तक की ऊँची आवाज लोगों का ध्यान इस ओर तो आकृष्ट ही कर सकती थी। इसीलिए इसके स्थान पर मुरज-निर्घोषान्तरितः' पाठान्तर मिलता है। सूत्रधारः--वसन्तक ने ही यह सारी योजना तैयार की है। इसलिये यही सूत्रधार है।

पृष्ठ ९७ - दुर्नयस्य = बेवकूफी का।

पृष्ठ ९८—वैलक्ष्यम् = लज्जा। अभूमिः = अयोग्य स्थान, सांकृत्यायनी की उक्ति का आशय है कि जहाँ इस प्रकार का छल-प्रपञ्च हो रहा हो, मुझ जैसे धार्मिक को वहाँ नहीं रहना चाहिए।

पृष्ठ १०२--गर्भनाटक--साहित्यदर्पणकार के गर्भाङ्क और गर्भनाटक में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। दोनों शब्द समानार्थक हैं। साहित्यदर्पण में गर्भाङ्क का लक्षण दिया गया है--

'अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ॥' (६।२०)

अर्थात् गर्भाङ्क (अथवा गर्भनाटक) वस्तुतः किसी नाटक के एक अङ्क के अन्तर्गत रहने वाले दूसरे अङ्क का नाम है। इसमें भी सूत्रधार कृत मङ्गलाचरण किंवा प्रस्तावना आदि अनिवार्य है। इसमें भी बीजरूप इतिवृत्तार्थ किं वा नायक के प्रधान प्रयोजन का अंशतः उपन्यास आवश्यक है।

यह तो सर्वविदित है कि 'अङ्क' में मुख्य अथवा सरस वस्तु का ही विनिवेश होता है और 'सूच्य' 'प्रयोज्य' 'अभ्यूह्य' और 'उपेक्ष्य' वस्तुओं का उपन्यास विष्कम्भक, प्रवेशक आदि उपायों से किया जाता है। 'गर्भाङ्क' भी एक उपाय ही है जिसे नाटककार 'सूच्य' वस्तु के अल्पतम कालव्यापी होने पर अपनाता है। भिन्न-भिन्न नाटकों में 'गर्भाङ्क' की योजना के भिन्न-भिन्न उद्देश्य देखे जाते हैं। उत्तररामचरित में गर्भाङ्क की योजना रसोत्कर्ष के लिए की गयी है। बालरामायण में नायकोत्कर्ष के लिए और अमोघराघव में वस्तूत्कर्ष के लिए गर्भाङ्क रचा गया है। प्रस्तुत 'प्रियदर्शिका' में भी गर्भाङ्क की रचना कर प्रियदर्शिका को राजा से मिलने और सस्नेह वार्तालाप करने का जो अवसर प्रदान किया गया है उसका भी उद्देश्य वस्तूत्कर्ष ही है। लिखा है—

'रसनायकवस्तूनां महोत्कर्षाय कोविदैः ।
अङ्कस्य मध्ये योऽङ्कः स्यादयं गर्भाङ्क ईरितः ॥'

(रसार्णव सुधाकरः तृतीय विलास)

चतुर्थ अङ्क

पृष्ठ १०५—दीर्घरोषता = दीर्घः रोषः यस्याः सा दीर्घरोषा तस्याः भावः दीर्घरोषता। महारानी का इतना चिरस्थायी रोष रखना खेद और आश्चर्य का विषय है।

तपस्विनी—अनुकम्पनीया = बेचारी।

पृष्ठ १०७—देव्याङ्गारवत्या—देवी अङ्गारवती राजा प्रद्योत की पत्नी और वासवदत्ता की माता थी। वह अङ्गारक नामक असुर की कन्या थी।

अपने समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अङ्गारवती को प्रद्योत ने दुर्गा के वरदान से भार्या के रूप में प्राप्त किया था। या मम भगिनी—अङ्गारवती की बहिन और वासदत्ता की मौसी, अङ्गाधिपति दृढवर्मा की पत्नी थी। उसका नाम प्रस्तुत नाटिका में नहीं दिया गया है और न सोमदेवभट्ट के 'कथासरित्सागर' अथवा क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी से ही उसके विषय में कुछ ज्ञात होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि के लिए नाटककार के अपने मस्तिष्क की यह उपज है। इससे उसने दो काम निकाला है। एक तो वासवदत्ता का वत्सराज के प्रति किया गया कोप शान्त होता है और दूसरा यह कि आरण्यका (प्रियदर्शिका) का विवाह भी वत्सराज के साथ सम्पन्न हो जाता है।

पृष्ठ १०९—निर्विण्णा=खिन्न, (निर + √विद् + क्त + टाप्) अत्याहितम् = अनर्थ, आत्महत्या आदि।

पृष्ठ १११—एतावतीं भूमिम्—इस स्थिति को। वासवदत्ता की उक्ति का अभिप्राय है कि आप (सांकृत्यायनी) राजा का पक्ष लिया करती हैं, उन्हें निर्दोष ही सिद्ध किया करती हैं उसी का फल है कि आज मैं राजा के द्वारा उपेक्षित होकर इस स्थिति को पहुँच गयी हूँ कि आपके भी सामने लज्जा से मुँह दिखाते नहीं बनता है।

पृष्ठ ११२—समरसंघट्ट=युद्धसङ्घर्ष। दुर्विषह = अजेय। बलसन्दोह=सेना समुदाय।

पृष्ठ ११४—परिभ्रश्य= छूट कर।

पृष्ठ ११५, श्लोक २—मयि संभ्रमेण अलम्—मेरे प्रति सम्मान प्रदर्शनार्थ उतावलापन न करो। अथवा सम्भ्रम का अर्थ आदर, श्रद्धा भी होता है। जैसे 'गृह मुपगते सम्भ्रमविधिः'—भर्तृ० २।६३)

पृष्ठ ११७—अतिसुखिनो नन्वसि—अरे, आप तो सुखी हैं। वासवदत्ता की यह उक्ति सोपालम्भ है। विकारयसि = सताते हो, चिढ़ाते हो।

पृष्ठ ११९, श्लोक ४—आक्रान्तवाह्यविष्य:—आक्रान्तो बाह्यो विषयो यस्य सः, जिसके बाहरी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया हो।

प्राकार = किले की चहारदीवारी।

पृष्ठ ११९, श्लोक ५—निर्दिष्टाक्रान्तमन्दम्—निर्दिष्टेन पूर्वोक्तेन आक्रमणेन (भाव में क्त) मन्दम् = पूर्वोक्त आक्रमण से हतोत्साह।

दासेर = भृत्य। (भृत्ये दासेर दासौ चेत्यमरः)। चीयँमाण - क्षीयमाण।

पृष्ठ १२३—अभिजानासि = पहचान रही हो। महाव्यापारः = बहुत बड़ा काम।

पृष्ठ १२५—प्रतिपादितायाः—प्रदान की गयी। अवस्कन्द = आक्रमण। विद्रुतेषु = भाग जाने पर। प्रतीपमागच्छामि = वापस आता हूँ। स्मर्तव्यतां नीतम् = समाप्त कर दिया।

पृष्ठ १२७—कल्याव्यपदेशेन = मदिरा के व्याज से।

पृष्ठ १३२—वेदना = चेतना।

पृष्ठ १३३—नरेन्द्रता - (१) नृपत्व (२) विषवैद्यत्व। यहाँ दोनों अर्थ अभीष्ट हैं।

पृष्ठ १३४, श्लोक १०—यह श्लोक राजा के द्वारा 'सस्मित' (मुस्कराहट के साथ) कहा गया है। इसमें विष के सङ्क्रान्त होने पर जो स्थिति होती है उसका सुन्दर वर्णन किया गया है। जैसे, आँखों का झिपना, गद्गद वाणी का निकलना, रोमाञ्च तथा स्वेद का उदय होना, शरीर में कम्प होना। किन्तु ये विकार सात्विक भावोदय से भी होते हैं। राजा की मुस्कराहट का अभिप्राय यही है कि वह समझ रहा है कि प्रियदर्शिका की यह दशा इस समय विष के प्रभाव से नहीं है बल्कि मुझ (वत्सराज) को देखकर सात्विक भावोदय से ही है। राजा ने उक्त विकारों के वास्तविक हेतु को छिपाने के लिए कह दिया कि मालूम होता है कि अभी इसका विष पूर्ण रूप से शान्त नहीं हुआ है। यहाँ राजा का चातुर्य प्रशंसनीय है।

पृष्ठ १३८, भरतवाक्य—रूपकों में निर्वहण सन्धि के चौदह अङ्ग होते हैं। उनमें 'काव्यसंहार' और 'प्रशस्ति' ये दो अन्तिम अङ्ग होते हैं। रूपक के अन्त में 'अतोऽपि परं किं ते प्रियं क्रियताम्' आदि जैसे वाक्यों से 'काव्य संहार' की योजना की जाती है और उसके बाद ही 'भरत वाक्य' के द्वारा

'प्रशस्ति' की योजना की जाती है। प्रशस्ति का अर्थ है—शुभशंसना। 'नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते।' अभिनय समाप्त होने पर यह प्रशस्ति भरत (नट) के द्वारा प्रस्तुत की जाती है अतः इसे भरतवाक्य कहते हैं

कुछ विद्वानों का मत है कि नाटयशास्त्र प्रणेता भरत मुनि के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए इस शुभशंसनात्मक अन्तिम श्लोक को 'भरतवाक्य' कहते हैं।

उर्वीम् = पृथ्वी को। उद्दामसस्याम्—दाम्न उद्गतानीति उद्दामानि (प्रादितत्पु०) उद्दामानि सस्यानि यस्यां ताम्, प्रचुरसस्य सम्पन्न। वासवः = इन्द्र। प्रीणनम् = तृप्ति। वज्रलेपाः—वज्रम् = सुधालेपनविशेषः, तस्येव लेपः प्रसक्तिर्यासां ताः, वज्रलेप की तरह मन में दृढ़तापूर्वक निविष्ट होकर उद्वेग उत्पन्न करने वाली।



नाटकीय विषयों की संक्षिप्त व्याख्या

अङ्क—जैसे श्रव्यकाव्य (महाकाव्य) का विभाजन सर्गों में होता है वैसे ही दृश्य काव्य का विभाजन अङ्कों में होता है। अङ्क का स्वरूप या लक्षण इस प्रकार है—

'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
भवेद् गूढशव्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥
नानेकदिननिर्वर्त्यं कथया संप्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्त्तितः ॥'

'अङ्क का अभिप्राय गोद भी है। नाटक के एक-एक अवच्छेद रस भावों के लालन-पालन के लिए गोद का काम किया करते हैं इसलिए भी इन्हें 'अङ्क' कहा जाता है—

'रसालङ्कारवस्तूनामुपलालनकांक्षिणाम् ।
जनकाङ्कवदाधारभूतत्वादङ्क उच्यते ॥'

(रसार्णवसुधाकर ३।१९७)

नाटिका—नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥
स्यादन्तःपुरसंवद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा ।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
देवी भवेत् पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥
पदे पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात् कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥

नान्दी—आशीर्वचनसंयुक्तास्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

माङ्गल्य - शङ्खचन्द्राब्ज - कोककैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥

सूत्रधार—

वर्णनीयं कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥
नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥

प्रस्तावना अथवा आमुख—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥

नायक—त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान् नेता ॥

प्रस्तुत नाटिका का नायक धीरललित, उसका लक्षण—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

अर्थात् 'धीरललित' वह नायक है जो निश्चिन्त रहने वाला, स्वभाव का मृदु और कलाव्यसनी हो। कला का अभिप्राय नृत्यादि कलाओं से है।

नेपथ्य—कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते।

कुशीलवा नटास्तेषां कुटुम्बस्य वृन्दस्य स्थलं वेषपरिग्रहस्थानं नेपथ्यम्।

विष्कम्भक—वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥

प्रवेशक—प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥

प्रवेशक और विष्कम्भक में अन्तर—

(१) प्रवेशक प्रथम अङ्क के आदि में कभी नहीं आता, जब कभी इसका प्रयोग होता है तब दो अङ्कों के बीच में। विष्कम्भक के लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है, वह किसी भी अङ्क में प्रयुक्त हो सकता है।

(२) विष्कम्भक के दो भेद हैं—शुद्ध और मिश्र या सङ्कीर्ण। किन्तु

प्रवेशक में इस प्रकार का कोई भेद नहीं होता है।

(३) शुद्ध विष्कम्भक में मध्यम प्रकृति के पात्रों के कारण संस्कृत भाषा का प्रयोग होता है और मिश्र या सङ्कीर्णं में मध्यम और नीच दोनों प्रकार के पात्र होने से संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ होती हैं। प्रवेशक में नीच प्रकृति के ही पात्र होते हैं अतएव केवल प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है।

आत्मगतम् या स्वगतम्—अभिनय की आवश्यकता के अनुसार नाटयशास्त्रकारों ने कथावस्तु का तीन विभाग किया है—श्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य।

आत्मगतम् या स्वगतम् का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ कथावस्तु का भाग किसी भी पात्र को सुनना अभीष्ट नहीं, अर्थात् अश्राव्य होता है। 'आत्मगत' या 'स्वगत' का अभिप्राय 'पात्र का अपने मन में ही बोलना' होता है। अर्थात् कोई पात्र स्थितिविशेष में मन ही मन बोलता है जिससे उसके मनोभाव अभिव्यक्त होते हैं और उसके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। कभी-कभी इससे सामाजिकों को कथावस्तु के अनुक्रम को समझने में भी सहायता मिलती है।

प्रकाशम्—सर्वश्राव्य अर्थात् जिसका सभीपात्रों को सुनाना अभीष्ट होता है, ऐसी कथा-वस्तु को प्रदर्शित करने के लिए 'प्रकाशम्' का प्रयोग होता है।

जनान्तिकम्—नियतश्राव्य अर्थात् कतिपय नियत पात्रों को ही जिसका सुनाना अभीष्ट होता है, ऐसी कथावस्तु के लिए 'जनान्तिकम्' का प्रयोग होता है। इसका आशय है कि जब कोई पात्र किसी पात्र के प्रति कोई बात गोपनीय रखना चाहता है तब वह ऐसी हस्तमुद्रा बनाया करता है जिसमें सब (तीनों) अंगुलियाँ तो ऊपर उठी रहें और अनामिका झुकी रहे। इस हस्तमुद्रा को 'त्रिपताककर' कहते हैं। इस प्रकार 'त्रिपताक' दिखा कर एक को सुनने से मना कर दूसरे को सुनायी गयी बात 'जनान्तिक' है। दर्पणकार ने कहा है—

'त्रिपताककरेणान्यानपवार्यन्तिरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् (६/१३९)

अपवार्य या अपवारितम्—इसका भी प्रयोग नियतश्राव्य कथावस्तु के लिए होता है। इसका आशय है–जिसे किसी के प्रति गोपनीय समझकर, उससे अन्यत्र हटकर, उसकी ओर पीठ करके, दूसरे पात्रविशेष से किसी रहस्य का

प्रकाशन किया जाता है उसे 'अपवारित' कहते हैं। दर्पणकार के शब्दों में—

… … … … …तद् भवेदपवारितम्।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते॥ (६/१३८)

कञ्चुकी—अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥

प्रस्तुत नाटिका में वैदर्भी रीति का अवलम्बन किया गया है।

वैदर्भी रीति—"माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका।
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥"

अल्पवृत्ति का आशय है-स्वल्प समासयुक्त। अवृत्ति का आशय है-समासरहित।

प्रस्तुत नाटिका में माधुर्य गुण है। 'चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।' माधुर्य के अभिव्यञ्जन-साधन—(१) ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर क से म पर्यन्त वर्ण जो अपने अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त रहें। अन्य वर्ण असंयुक्त रेफ और णकार। (२) असमस्त रचना। (३) अल्पसमासवती रचना। (४) मधुर पदयोजना।

नाटिकागत सुभाषित

प्रविशन्ति शङ्कमाना राजकुलं प्रायशो भृत्याः।
गुणैकपक्षपातिनां रिपोरपि गुणाः प्रीतिं जनयन्ति।
नास्ति खलु दुष्करं दैवस्य।
न खल्वविघ्नमभिलषितमधन्यैः प्राप्यते।
प्रायो यत्किंचिदपि प्राप्नोत्युत्कर्षमाश्रयान्महतः।
सदृशाः सदृशे रज्यन्ते।
दुःखं याति मनोरथेषु तनुतां संचिन्त्यमानेष्वपि।
अतिदुर्जनः खलु लोकः।
वामे विधौ न हि फलन्त्यभिवाञ्छितानि।

श्लोकानुक्रमणिका



चौखम्बा अमरभारती द्वारा प्रस्तुत विद्वत्सम्मानित ग्रन्थ

हिन्दी कठोपनिषद्-शाङ्करभाष्य। (मूल-भाष्य उभय की हि व्याख्या) व्याख्याकार—आचार्य कीर्त्यानन्द झा

मेघदूतम्। 'इन्दुकला' संस्कृत हिन्दी व्याख्या नोट्स (टिप्पणी व्याख्याकार— पं० वैद्यनाथ झा पूर्वमेघ ४—०

संस्कृत साहित्य का इतिहास। डा० राजवंशसहाय हीरा

संस्कृत साहित्य का बृहत् इतिहास। डा० राजवंशसहाय

हिन्दी ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य। डा० कामेश्वरनाथ मिश्र (च

ऋतुसंहारम्। 'हरिप्रिया' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्

कादम्बरी-कथामुखम्। 'चन्द्रिका' संस्कृत हिन्दी. व्याख्या सहित ७—००

नागानन्दनाटकम्। 'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित ८—००

प्रबोधचन्द्रोदयम्। 'कल्याणी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित ८—००

वेदान्तसारः। 'सारबोधिनी' संस्कृत हिन्दी टीका सहित ५—००

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः। कामधेनु संस्कृत एवं विद्याधरी हिन्दी टीका सहित। तृतीय अधिकरणम् २—००, सम्पूर्ण १०—००

कर्णभारम्। इन्दुकला'-संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम् २—००

रत्नावलीनाटिका। 'प्रकाश' संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित ६—००

मालती-माधवम्। 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित १२—००

मुद्राराक्षस-नाटकम्। 'शशिकला' संस्कृत हिन्दी टीका, नोट्स सहित ८—००

स्वप्नवासवदत्तम्। 'प्रबोधिनी' सं०-हि० व्याख्या नोट्स, सहित ८—००

मृच्छकटिकम्। 'प्रबोधिनी, संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित १६—००

चैतन्यचन्द्रोदयनाटकम्। 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित

हनुमन्नाटकम्। 'विभा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित

प्रतिभा-नाटकम्। 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, नोट्स, सहित

विद्यापरिणयनम्। 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित

विदग्धमाधवम्। 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित

विक्रान्तकौरवम्। 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित

प्रभावतीपरिणयः। 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या सहित

विक्रमाङ्कदेवचरितम्। 'सुचारु-सुरभि' संस्कृत-हिन्दी व्याख्य त

प्रसन्नराघवम्। 'विभा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्

ध्वन्यालोकः। 'दीधिति-हिन्दी व्याख्या सहित १२—००

प्राप्तिस्थानं—चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी—२२१००१